(सर्वाधिकार सुरक्षित) http://www.jainkosh.org

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

पञ्चाध्यायी प्रवचन

त्रयोदश, चतुर्दश व पंचदश भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:

खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७५ लागत [१५) रु०

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

•••○○○•••

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पंचाध्यायी प्रवचन चतुर्दश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशाः ।
किंनामानः कथं ज्ञेया ब्रूहि मे बदतांवर ॥९६३॥

स्वान्तःपरीक्षणका महत्त्व व कर्तव्य—अपने आपके आत्माके भीतरकी बातकी परख करना, इससे बढ़कर लोकमें कोई वैभव नहीं है। धन सम्पदा, यश प्रतिष्ठा, लोकपरिचय, विषयसाधन ये सब इसके लिए कलंक हैं। इसमें जीवका रंच भी हित नहीं है। ऐसा अनुभव भी किया होगा। तब साधारणतया ऐसा पहिचानकर अपने जीवनका यह निर्णय बनायें कि मुझे अपने आपकी परख करना है। मैं क्या हूं, मेरेमें क्या-क्या बातें होती हैं। अपने आपकी परख ही सम्यक्त्व है, कल्याणका मूल है। मनुष्यजन्म पाया है तो इस लाभको मत छोड़ो। यदि सम्यक्त्वके लाभको छोड़ दिया तो जैसे पेड़-पौधे, कीट-पतिंगोंकी हालत है वही अपनी हालत होगी। यह संसार एक भयानक बन है, इसमें किसीका कोई शरण नहीं है। जैसे बनमें कोई रोये तो कौन निर्णय करने वाला है? इसी तरह इस असार संसारमें जो दुःख भोग रहे हैं उनकी कोई सुनाई करने वाला नहीं है। जो कुछ यहाँ पुण्योदयमें लग रहा है कि मेरा अमुक रक्षक है, मेरे इतने हितैषी हैं, वे सब स्वप्नकी तरह हैं। वस्तुतः कोई हितैषी नहीं है। यहाँ जितने लोग प्रेम दिखायेंगे, मोह बतायेंगे उन सबके अपने चित्तमें अपना स्वार्थ है। अपना सुख चाहिए, जिसमें भला दिखता हो वैसी प्रवृत्ति करना। यदि कोई हितैषी हो सकता है बाहर तो साधु-संत ही सच्चे हितैषी हो सकते हैं। उनके अतिरिक्त तो दुनियामें कोई हितैषी न मिलेगा। भला जिसने कोई ग्रन्थ रचा है, ऐसे आचार्य, इन्होंने क्या स्वार्थ साधा दूसरोंसे? कौनसा अपना मतलब निकाला? एक करुणावश होकर हम आप सबको एक ऐसी देन दे गए कि जिस प्रकाशमें हम अपना भला कर रहे हैं, करेंगे। सच्चा हितैषी कोई परमें हो सकता है तो साधु संत जन ही हो सकते हैं। उनके अतिरिक्त अन्य किसीमें भी यह विश्वास न करें कि यह मेरा भला कर सकेगा। यदि अपना कल्याण चाहिए

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो अपने आपके भीतरके वैभवको परखो। क्या है मुझमें ? जो बुरा हो उसे भी परखो, जो भला हो उसे भी परखो, पर परखो अपने आपके भीतर। बाहर कुछ परखनेसे कुछ न मिलेगा। देखिये उसी परखकी बात इस भागमें चलेगी।

वैभाविक भावोंके सम्बंधमें चार प्रश्न—इससे पहिले यह वर्णन था कि जीवमें एक वैभाविकी शक्ति है सो कर्मके उदयका निमित्त पाकर रागद्वेषादिक विभावरूप परिणमन होता है और इस विकारपरिणमनमें यह जीव दुःखी रहता है। तो यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि आखिर विभाव कितने होते हैं, क्या क्या होते हैं, वे भाव जो कि दुःखरूप होते हैं ? वही प्रश्न यहाँ किया जा रहा है। वैभाविक भाव कितने हैं और कैसे हैं ? किस नाम वाले हैं और वे कैसे परखे जाते हैं, ऐसा हमें समझाइयेगा ? इतनी जिज्ञासायें यहाँ हुईं। एक तो यह जाननेकी इच्छा हुई कि वे वैभाविक भाव कितने हैं, विकार भाव रागद्वेष सुख दुःखादिक जो कुछ हमपर गुजरते हैं, जिनमें हम आकुलित रहते हैं, ऐसे ये खोटे भाव कितने होते हैं ? एक प्रश्न तो यह हुआ। दूसरा प्रश्न यह है कि वे कैसे हैं ? उनका स्वरूप क्या है और वे वैभाविक भाव किस-किस नामसे पुकारे जाते हैं, उनका नाम क्या है और वे किस प्रकार परखे जाते हैं, उनका परिचय करनेका उपाय क्या है ? इन चार प्रश्नोंमें वैभाविक भावोंके विषयमें जिज्ञासुकी जिज्ञासा हुई है तो उसके समाधानका संकल्प आचार्यदेव करते हैं।

शृणु साधो महाप्राज्ञः वच्म्यहं यत्तवेप्सितम्।
प्रायो जैनागमाभ्यासात् किञ्चित्स्वानुभवादपि ॥६६४॥

महाप्राज्ञ साधु शंकाकारको ग्रन्थकार द्वारा समाधानका आश्वासन—ग्रन्थकार शंकाकारको सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे महाप्राज्ञ सज्जन पुरुष, हे साधुमहाप्राज्ञ, जो तुम्हारा चाहा हुआ है, जिस बातको तुम जानना चाहते हो उसे हम कहते हैं सो सुनो—यहाँ ग्रन्थकार उस शंकाकारको दो संबोधनोंसे पुकार रहा है। सज्जन श्रेष्ठ और महाबुद्धिमान्। ऐसा प्रश्न कौन कर सकता है ? जिसको कल्याणकी रुचि हो, जिसमें आत्मदया उत्पन्न हुई हो, संसारसे भयभीत हो वही पुरुष ऐसा प्रश्न कर सकेगा। इसलिए शङ्काकार स्वयं सज्जन है, श्रेष्ठ है, उत्तम पुरुष है, देखो जो विभावभाव इस जीवके लिए दुःखके कारण हैं, जिनके मिटाये बिना कल्याण नहीं हो सकता है, उन विभाव भावोंके सम्बंधमें जाननेके स्पष्ट परिचय करनेकी उत्सुकता होना, यह तो किसी विरक्त पुरुषके ही संभव है। रागी पुरुष तो गप्प मारेंगे, उन्हें तो प्रेम ही पसंद होगा, और उस प्रेममें जो बाधक होगा उससे द्वेष करना पसंद होगा तो मोही जीव सिवाय पापभरी गप्पोंके और कह ही क्या सकता है ? ऐसा उत्तम प्रश्न करना, जिन वैभाविक भावोंसे मुक्त होना चाहते उन वैभाविक भावोंके परिचयकी उत्सुकता करना, यह तो निकट भव्य पुरुषके ही संभव है। इसलिए शङ्काकारको यहाँ साधु शब्दसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पुकारा है। दूसरा शब्द दिया है महाप्राज्ञ, बुद्धिमान्। गुरु जब शिष्यको पढ़ाता हो और शिष्य जब समझता हो, परिश्रम करता हो, उसमें आगे कदम बढ़ाता हो तो उसकी चेष्टाको देखकर गुरु प्रसन्न होता है और वह चित्तमें उस शिष्यके प्रति बड़ा बुद्धिमान् है, बड़ा अच्छा विद्वान् है, प्रतिभाशाली है, ऐसा समझना है। इस सम्बंधमें ग्रंथकार प्राज्ञ शब्दसे संबोधन कर रहा है। बड़ा बुद्धिमान् है, ऐसे शब्दसे संबोधन कर रहे हैं उचित प्रश्न किया गया ना। अतः भला बतलाओ जो आपके दु:खका कारण हो चेतन अथवा अचेतन, उसके बारेमें आपको खूब-खूब जाननेकी इच्छा होती है कि नहीं ? तो जो वास्तवमें आत्माके दु:खके हेतुभूत हैं उनके जाननेकी इच्छा होना, यह विवेकीका काम है। सारा यह मोहका परिवार इस जीव को इस तरह दु:खी कर रहा है। जिसे अगर कहा जाय तो जैसे कोई सुन्दर दु:खी करता है। कोई चीज सुन्दर हो तो वह कैसा तड़फा-तड़फाकर दु:खी करने वाली होती है ? यह बात आप इस जगतमें परख रहे होंगे। जिसे जो सुन्दर लगता है, लोग तो तारीफ करते हैं कि यह बहुत सुन्दर है, पर कहा गया कि यह तड़फा-तड़फाकर मारने वाला है। अर्थ यह हुआ उसका। यह बात आपको केवल एक व्यावहारिक ढंगकी नहीं कह रहे हैं, किन्तु सुन्दर शब्द जिन पदोंसे बना है उनमें भी यह ही अर्थ पड़ा है—सुन्दर शब्द संस्कृतका शब्द है। जिसमें सु उपसर्ग है, उन्द् (उन्दी) धातु है और अर (अरच्) प्रत्यय लगा है। उन्द् धातुका अर्थ है क्लेदन। कष्ट, महाकष्ट देना। क्लेद करना वह कहलाता है कि जो देखनेमें तो ऐसा लगता है कि कोई ज्यादा कष्टकी बात नहीं कही जा रही है, मगर उसे निरन्तर भीतरी चोटसे कष्ट दिया जा रहा है। जैसे कोई किसीके शरीरको बहुत तेज रगड़े जिससे कि उसकी चाम छिल जाय और उसमें नमक छिड़क दे तो देखनेमें लगता कि क्या कष्ट ? न कोई तलवारसे मार रहा, न कोई काट छेद रहा, क्या कष्ट, पर भीतर ही भीतर वह बड़ा कष्ट पाता रहता है। इसी तरह जो भले प्रकारसे तड़फा-तड़फाकर मारे उसे कहते हैं सुन्दर। यह शब्दमें अर्थ पड़ा है। तो ऐसा ये वैभाविक भाव सुन्दर लगते हैं। प्रेमका भाव जगे तो बड़ा सुहावना लगता है। खुद भी मुस्करा रहे, दूसरे भी मुस्करा रहे, बड़ा आनन्द माना जा रहा। अरे क्या आनन्द मानते हो ? यह तो सुन्दर है, तड़फा-तड़फाकर मारने वाला प्रेम है, इस जीवको जो हैरान किए हुए है। तो ये वैभाविक भाव जो हमारे दु:खके कारणभूत हैं उनकी बात पूछ रहा हो वह महाप्राज्ञ पुरुष है।

वैभाविक भाव कितने हैं, कैसे हैं, किस नाम वाले हैं, किस उपायसे ज्ञेय हैं, इन चार प्रश्नोंका समाधान देनेका प्रामाणिक संकल्प—ग्रन्थकार कहते हैं कि हे महाप्राज्ञ ! जो तुमने पूछा है उसे ध्यानपूर्वक सुनो और देखो—जो मैं कहूंगा वह उस जैन आगमके अभ्यासके अनुसार कहूंगा और अपने कुछ अनुभवके बलसे भी कहूंगा। तो हे महाप्राज्ञ साधु शङ्काकार

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पुरुष ! तुम भी उस अनुभवगमके अभ्यासके आधारसे सुनो—और कुछ अपना अनुभव भी लगाना, युक्ति भी लगाना, इस तरह तुम सुनो अपने आपके भीतरकी गड़बड़ियोंको। जिसको कूड़ेकी खबर है उसको असलीकी भी खबर है। जब चावल बीनते हैं तो बीनने वालेको कूड़े की खबर न हो तो फिर वह बीनेगा क्या ? अथवा चावलकी खबर न हो तो वह सोचेगा क्या ? तो ऐसे ही अपने आपके भीतरका कूड़ा भी परखिये और वैभव भी परखिये। दोनोंको समझ लो—ऐसा विलक्षण आनन्द आयगा जो आनन्द आपको किसी भी स्थितिमें नहीं आ सकता। जब आपसे कहें कि अच्छा बतलाओ तुमको परमात्मा होना पसंद है ? तो इसे कोई भी मना न करेगा। सभी कहेंगे कि हाँ हमें परमात्मा होना पसंद है। तो परमात्मा होनेका जो उपाय है वह बताया जाय और उसका करना पसंद हो जाय तब तो परमात्मा पसंद है, यह कहना उसका सच उतरेगा और परमात्मा होनेका उपाय पसंद न आया तो उसका कहना झूठ है। उसका तो वह ऐसा सोचकर कह रहा होगा कि जब यहाँ घरमें रहते हैं, अच्छा बड़ा मकान है, खूब वैभव है, खूब अच्छा रोज-रोज बढ़िया भोजन बनता है, मिलता है, बड़े अच्छे मित्र हैं, बड़ा सुख है, इससे भी उत्तम अनन्तगुना सुख है परमात्मा होनेमें, यह समझकर कहा, स्वरूप नहीं समझा। तो भाई परमात्माका स्वरूप समझो, और परमात्मा जिस उपायसे हुये हैं उस उपायमें अपनी रुचि बनाओ। कठिन कुछ नहीं है, पर मोह लगा है, इसलिए परमात्मा होनेका मार्ग कठिन लग रहा है। पर सुगम इतना है कि जितना सुगम धन कमाना नहीं, परिवारका पालन-पोषण करना नहीं। ये तो कठिन है, लेकिन परमात्मा होने का उपाय बनाना सुगम है, सरल है। लेकिन उस सरलको क्या करें ? जब चित्तमें मोह समाया हुआ है तो बात कैसे रुचेगी ? सुगमता और कठिनताकी बात यों समझ लीजिए कि धन कमाना आपके भावके आधीन नहीं है। आप जितना चाहते हैं उतना हो जाय, ऐसा आपके भावके आधीन है क्या ? समय आयगा, जो कुछ होना होगा वह होना पड़ेगा, वह तो उदयके आधीन है। परिवारका पोषण करना, परिवारको प्रसन्न रखना, परिवारकी बड़ी उन्नति करना, यह कठिन बात है, आपके आधीन बात नहीं है। योग मिल जाये वह बात दूसरी है। अच्छा समागम मिल गया। बड़े विनयशील, बड़े चतुर परिवारके लोग मिल गए, पर आपकी कुछ करतूतसे वे वैसे मिल गए सो बात नहीं, आपकी इच्छाके माफिक वे अपना कार्य करते हों सो बात नहीं। किसी भी दूसरे जीवको अपने मनमाफिक रखना बड़ा कठिन है। मोक्षमार्गका कार्य, परमात्मा बननेका कार्य है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इनका निभाना बड़ा सरल, सुगम, स्वाधीन और आरामदेह है। कैसे ? अपने आपको अपनी दृष्टिमें लो, देखो, परखो, बस तृप्ति भी हो जायगी, प्रसन्नता भी आ जायगी, आत्मरमण भी होगा। इसमें पराधीनता कहाँ है ? कौन रोकने वाला, कौन बाधा देने वाला ?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

तो परमात्मा होनेका उपाय सुगम है, सरल है, स्वाधीन है, उसकी ओर रुचि बढ़ावें और अपना यह दुर्लभ मानव-जीवन सफल करें। जिसका जो हो सो होने दो। उसको आप कर भी नहीं सकता। तो जिसे आप करनेमें समर्थ नहीं हैं उसके विकल्पमें ही निरन्तर रहनेसे लाभ क्या है? और जिस बातके करनेमें आप समर्थ हैं उस ओर आप जरा दृष्टि दे दें तो वह काम बना बनाया है। तो उसी प्रकरणमें परखनेकी बात चल रही है। अपने आपमें परख कीजिए। गड़बड़ियाँ कितनी हैं? वे गड़बड़ियां कैसी हैं? उन गड़बड़ियोंके नाम क्या हैं और उन गड़बड़ियोंके जाननेका तरीका क्या है? ये चार बातें पूछी गईं। इन चारों बातोंका समाधान देनेका संकल्प ग्रन्थकार कर रहे हैं।

लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात्।
तेषां जातिविवक्षायां भावाः पञ्च यथोदिताः ॥६६५॥

भावोंकी असंख्यातलोकप्रमाणता व जातिकी अपेक्षासे पञ्चप्रकारता—उक्त चार प्रश्नोंमें पहिला प्रश्न क्या था? वैभाविक भाव कितने हैं? पुरुषमें होने वाली गड़बड़ियाँ कितनी हैं? उसका उत्तर इस श्लोकमें दिया जा रहा है। ये वैभाविक भाव असंख्यात लोक-प्रमाण है और जाति अपेक्षासे देखा जाय तो वह भाव ५ जातियोंमें विभक्त है। तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय अध्यायमें प्रथम सूत्रमें ५ भावोंका वर्णन है। उन्हीं भावोंका यहाँ वर्णन चलेगा। तो जीवके स्वतत्त्व कितने हैं? निजी भाव कितने हैं? वे हैं ५, उन ५ में जो एक पंचम भाव है, पारिणामिक भाव है उसमें भी जो शुद्ध पारिणामिक है वह तो शुद्ध भाव है। उसके तो भेद प्रभेद नहीं होते, लेकिन अन्य जो भाव हैं वे असंख्यात लोकप्रमाण हैं। कितने हैं भाव? दो, चार, दस, करोड़, अरब, खरब, शंख, महाशंख आखिर कितने हैं? अरे असंख्यात लोक प्रमाण हैं। मतलब क्या है? इस लोकमें कितने प्रदेश हैं? असंख्यात, अनगिनते प्रदेश हैं। देखो सूईकी नोक जहाँ गड़ा दी जाय और उससे जितना गड्ढा बने उतनी जगहमें असंख्यात प्रदेश हैं, अनगिनते प्रदेश हैं। और फिर यह टिकने वाली दुनिया कितनी बड़ी? यह सारा लोक कितना बड़ा? तो पहिले तो प्रदेश ही समझ लो। एक लोकमें कितने प्रदेश हैं। ऐसे-ऐसे अनगिनते लोक हों और उनके जितने प्रदेश हों उतने हैं ये वैभाविक भाव। लेकिन जाति की अपेक्षासे वे ५ प्रकारके कहे गए हैं। वे ५ प्रकारके भाव कौन हैं? उनका नाम अगले दो श्लोकोंमें बताया जा रहा है।

तत्रोपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोपि च।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोप्योदयिकोस्ति नुः ॥६६६॥
पारिणामिकभावः स्यात् पञ्चेत्युद्देशिताः क्रमात्।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपञ्चाशदितीरिताः ॥६६७॥

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीवके पांच भावोंका निर्देश—५ भावोंके नाम हैं—१. औपशमिक भाव, २. क्षायिक भाव, ३. क्षायोपशमिक भाव, ४. औदयिकभाव और ५. पारिणामिक भाव। इनका स्वरूप इस नामके आधारपर ही ज्ञात हो जाता है। विशेष स्वरूप तो आगे बताया जायगा, पर सामान्यतया समझ लीजिए—औपशमिक भाव नाम है उसका जो कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न हो, कर्मोंके दब जानेसे उत्पन्न हो। जो कर्मोंके दब जानेसे उत्पन्न होगा वह भाव निर्मल होगा कि मलिन? निर्मल होगा, मगर उस निर्मलताकी गारंटी नहीं है, क्योंकि कर्मोंके दबने से होता है वह भाव। दबे हुए कर्म जितनी देर तककी उपशमकी अवधि है उतनी देर दबे रहेंगे, फिर उखड़ जायेंगे। जैसे मेढकके कुछ ऐसे खिलौने बाजारोंमें बिका करते हैं कि जिनके नीचे तो एक टीनकी फांस लगी रहती है और उस फांसको मेढकके नीचे चिपकानेके लिए कुछ मसाला रहता है। चिपका देनेसे कुछ देर चिपका रहेगा, मगर वह थोड़ी ही देरमें उछल जायगा। तो ऐसे ही ये कर्म चिपक गए, उपशान्त हो गए, दब गए तो ज्यादा देर न दबे रह सकेंगे। उनका उदय होता है, उखड़ते हैं, फिर वे प्रायः औदयिक भावमें आ जाते हैं, कषायों में आ जाते हैं। अगर कर्मोंके उपशमसे जो भाव हुआ है वह तो निर्मल है, औपशमिक है, शान्त है, ऐसा जो भाव है वह भाव जीवका निजतत्त्व है। निजतत्त्वके मायने यह हैं कि जीव में ही पाये जायें, अन्य पदार्थोंमें न पाये जायें। यहाँ निजतत्त्वका अर्थ सहज स्वभाव न लेना, जो जीवके ५ निजी तत्त्व कहे गए हैं उसका अर्थ स्वभाव नहीं, किन्तु जीवमें ही पाये जा सकते हैं, अन्य द्रव्यमें नहीं पाये जा सकते हैं, इस कारण जीवके स्वतत्त्व कहा। लक्षण नहीं हैं, किन्तु जीवके निजी भाव हैं। दूसरे भावका नाम है क्षायिक भाव। जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ परिणाम है उसे क्षायिक भाव कहते हैं। क्षायिक भाव निर्मल भाव है। कर्मका क्षय हो चुका, अब उस भावमें धोखा नहीं है, मिटेगा नहीं वह भाव। जैसे केवलज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व ये सब क्षायिक भाव कहलाते। हुए तो हुए, मिटनेकी बात नहीं आयी। तीसरा बताया है क्षायोपशमिक भाव। जो प्रकृतिके उदयसे उदयाभावी क्षयसे और उपशमसे भाव उत्पन्न हो उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। इसका विशेष खुलासा जब स्वरूप वर्णन होगा तब किया जायगा। औदयिक भावका अर्थ है जो कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हो। जैसे रागद्वेष मोह ये औदयिक भाव हैं, कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं और इसी कारण जीवके स्वतत्त्व हैं। पारिणामिक भाव निरपेक्ष भाव है, उदय उपशम क्षय क्षयोपशमके बिना जो जीवमें हो वह पारिणामिक है।

पञ्चभावोंकी विशेषता और उनके इस क्रमसे निर्देश करनेका कारण—अब देखो—रागद्वेष भावोंको भी स्वतत्त्व बताया। तो इससे तो स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जीवके स्वभावकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु रागद्वेष मोह जीवमें ही हो सकते हैं, अन्य पदार्थोंमें नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हो सकते, इसलिए जीवके स्वतत्त्व कहे जाते हैं, ये जीवके असाधारण भाव हैं। यद्यपि भावदृष्टिसे जीवके भाव असंख्यात लोकप्रमाण हैं और इतना ही क्या ? जब उसमें शक्तिको देखते हैं तो वे अनन्त भाव हैं, परन्तु एक जाति अपेक्षासे स्थूल रूपसे उन भावोंको गर्भित किया जाय तो वे ५ प्रकारके होते हैं। इन ५ भावोंमें सब कुछ आ गया। गुणस्थान, जीवसमास, गति इन्द्रिय, काय, योग मार्गणायें, सब कुछ इन ५ भावोंमें शामिल है। उनमें परख कर सकेंगे कि ये मार्गणायें, ये गुणस्थान किस भावमें आते हैं ? क्या औदयिक हैं, औपशमिक हैं, क्षायिक हैं। तो इस तरह ये भाव जातिकी अपेक्षासे ५ कहे गए हैं। इन ५ भावोंका क्रम क्या है ? औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और परिणामिक, ये नाम बताये गए। इससे औपशमिक क्षायिकको पहिले कहा है, जिससे ये जीव जान जायें कि ये निर्मल भाव हैं और ये मोक्षगामी, भव्य पुरुषके ही हो सकते हैं। और अन्तमें औदयिक पारिणामिक कहा। उसके लिए झट यह समझ जायें कि यह भव्य अभव्य सभी जीवोंके संभव है और बीचमें जो क्षायोपशमिक भाव कहा है वह एक ऐसा व्यापक भाव है कि वह मोक्षमें भी सहायक है और संसारी जीवके भी होता है, और एक-एक करके यदि समझना हो कि ५ भावों को इस क्रमसे क्यों नाम देकर लिखा है ? तो उसका भी कारण है।

जीवके पञ्चभावोंके क्रमनिर्देशका द्वितीय मर्म—जीवके स्वतत्त्व ५ बताये गए हैं—(१) औपशमिक, (२) क्षायिक, (३) क्षायोपशमिक, (४) औदयिक और (५) पारिणामिक। इनके क्रम रखनेकी एक विधि तो बता दी गई है। दूसरी विधि यह है कि संसारमें औपशमिक भाव वाले जीव बहुत कम हैं। औपशमिक भाव किसके होगा ? जो औपशमिक सम्यग्दृष्टि हों या उपशम श्रेणीपर चढ़ रहे हों उनके औपशमिक भाव होता है। तो ऐसे उपशम भाव वाले तो बिरले जीव हैं और तिसपर भी औपशमिक भावकी अवस्था अन्तर्मुहूर्त है। इसलिए बहुतसे जीवोंका संग्रह भी नहीं हो पाता है। इसलिए सबसे पहिले औपशमिक भाव कहा है। उससे असंख्यात गुणे जीव क्षायिक भाव वाले हैं। यहाँ अभी सिद्धकी निगाहसे नहीं देखना है। संसारमें औपशमिक भाव वाले कम हैं, उनसे असंख्यात गुणे क्षायिक भाव वाले हैं और क्षायिक भाव वालेसे असंख्यात गुणे क्षायोपशमिक भाव वाले हैं, और उनसे कई गुणे औदयिक भाव वाले हैं। उनमें द्रव्यकी दृष्टिसे देख लीजिए, औदयिक भावका द्रव्य अधिक है और पारिणामिक भाव तो सामान्यभाव है, इसलिए वह निर्विशेष होनेके कारण अन्तमें रखा गया है। तो बड़े पुरुष जो भी बात कहते हैं उस बातमें कोई खूबी होती है, रहस्य होता है। वह चाहे कह दो अनायास, आसानीसे। लेकिन उसमें मर्म और भाव बहुत होता है। अब उन भावोंमें से औपशमिक भावका स्वरूप कहा जा रहा है।

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात् स्वतः ।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥९६८॥

औपशमिक भावका परिचय—विपक्षी कर्मोंका उदय जब उपशान्त हो जाता है उस समय जो जीवके भाव होते हैं उसका नाम है औपशमिक भाव। औपशमिक भाव दो प्रकार कहे गए हैं——१—औपशमिक सम्यक्त्व और २—औपशमिक चारित्र। औपशमिक सम्यक्त्व तो अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति—इन ७ प्रकृतियोंके उपशम होनेपर होता है और औपशमिक चारित्र २५ कषायोंका उपशम होनेपर होता है। औपशमिक चारित्र उपशम श्रेणीमें है। तो इन औपशमिक भावोंके प्रतिपक्षी कर्मों का उपशम होनेपर होने वाला यह औपशमिक भाव आत्माका भाव है। आत्मामें जो कर्म बँधे हुए हैं उन कर्मोंमें अपनी शक्तिके कारणसे उनकी शक्तिका उद्भव न हो सके, फल न दे सके, इसको कहते हैं उपशमभाव। कर्मकी शक्तिका कारणवश उदय न हो सकनेका नाम उपशम है। जैसे कोई गंदा पानी है और उसमें फिटकरी डाल दी जाय तो उसकी गंदगी नीचे बैठ जाती है। जैसे सरसोंका तेल शीशीमें भरा, उसमें निर्मली डाल दी जाय तो उसकी गंदगी नीचे बैठ जाती है, तो यह कहलाया उपशम। पानी उपशान्त है, निर्मल है, उसका मल कीचड़ सब नीचे दब गया है। इसी प्रकार आत्मामें कर्मका उपशम है, दबा हुआ है, उदय नहीं आ पा रहा। होता है औपशमिक भाव। इस जीवने आज तक औपशमिक भाव नहीं प्राप्त किया जो कि संसारमें रुलाता चला आ रहा है। जिसने कभी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया उपशमके समयमें उन कर्मोंका उदय नहीं रहता। जैसे किसी वकीलकी इच्छा है कि हम भावोंमें दशलक्षणके दिनोंमें कचहरी किसी तारीखमें न जावेंगे। दशलक्षणके दिनोंभर धर्म-साधनामें ही रहेंगे, तो वह क्या करता है कि माह दो माह पहिलेसे ही उन दशलक्षणके दिनों के लिए तारीख टालता रहता है और जो तारीखें पहिलेसे लग चुकी हैं उनको पहिले अथवा बादमें डलानेका प्रयत्न करता है। अब उन दिनों कोई तारीख न रही सो वह निश्चिन्त होकर धर्मसाधना करता है। अब देखिये उसकी वे तारीखें तो पड़ेंगी ही, मगर वे अभी दबी हुई हैं, तो ऐसे ही समझिये कि इस आत्मामें कर्म प्रकृति सत्तामें पड़ी है। अब जिस समय जिस कर्मका उपशम होना है तो होता क्या है कि जिस समय उपशम होगा, जितने समय तक उपशम रहेगा उतने समय तकके वे कर्म या तो पहिले आ जायेंगे सत्तामें या आगेकी सत्ता में पहुंच जायेंगे, वहाँ रहते ही नहीं। तो उदय कहाँसे आये अथवा जो कोई अन्य प्रकारका उपशम होता है तो रहा आये, लेकिन वह उदयको प्राप्त नहीं हो सकता। तो ऐसे उपशम भावसे जो जीवके शुद्ध भाव होते हैं उनको औपशमिक भाव कहते हैं।

यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात् ।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥६६॥

क्षायिक भावका परिचय—इस श्लोकमें क्षायिक भावका स्वरूप कहा जा रहा है। भगवान क्या है ? तो वह है पूर्ण क्षायिक भाव और शुद्ध पारिणामिक भाव। बस दो भाव हैं उनका नाम भगवान है। कर्मोंका क्षय होनेसे केवल ज्ञानादिक प्रकट होते हैं, वह तो क्षायिक भाव है और शुद्ध जीवत्व रह गया जो था ही पहिलेसे तो यों पारिणामिक भाव है। तो क्षायिक भावकी जब हम चर्चा करें तब हमें भाव और भगवान दोनोंके स्वरूपकी ओर दृष्टि ले जाना चाहिए। क्षायिक भावका स्वरूप कहा जा रहा है कि विपक्षी कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे जो आत्मामें भाव प्रकट होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं। क्षायिक भाव आत्माका शुद्ध भाव है, क्योंकि कर्मोंके नाशसे अपने आप आत्मामें स्वयं उत्पन्न होता है। तो जो क्षायिक भाव है वह स्वाभाविक भाव है।

क्षायिक भावके अभावमें सांसारिक विडम्बनाओंकी वर्तमान चर्चा—क्षायिक भाव न होनेसे इस जीवकी सारी दुर्गतियाँ चल रही हैं। कैसी कल्पना बनाता है यह जीव। भीतरमें कल्पनाओंका कैसा भण्डार भरा पड़ा है ? समझमें नहीं आता। खाली ही नहीं हो पा रहा। कितने मनचाहे ही काम कर लो, करते तो इसलिए हैं कि यह दुःखदायी कल्पनाओंका भण्डार खत्म हो जाय, आरामसे रहें, लेकिन कुछ भी कर डालो, कल्पनाओंका भण्डार समाप्त होता ही नहीं। उन कल्पनाओंकी गिनती प्रकार, क्या बताया जाय ? बच्चोंके भी कल्पनाओंकी कमी नहीं, जवानोंके भी कल्पनाओंकी कमी नहीं, बूढ़ोंके भी कल्पनाओंकी कमी नहीं। अभी बच्चे हैं, पढ़ते-लिखते हैं, विवाह हुआ, सोचते हैं कि फिर हमें फुरसत हो जायगी, फिर कुछ बच्चे हो गए, कुछ नाती-पोते भी हो गए, लो और भी मोहमें फंस गए। यों फंसाव-फंसावमें ही सारी जिन्दगी गंवा देते हैं। कैसा कल्पनाओंका यह भण्डार भरा है ? जैसे यहाँ किसीने घंटा बजाया तो उससे शब्द निकल पड़ते हैं। खूब बजाते जावो, उससे शब्द निकलते ही जायेंगे। तो जैसे कितने ही शब्दोंका भण्डार यह घंटा है, ऐसे ही यह मोही जीव कल्पनाओं का भण्डार है। अरे इन समस्त कल्पनाओंके कारण ही तो यह जीव निरन्तर दुःखी रहा करता है। कल्पनाओंकी तरङ्ग यदि इस जीवमें न उठे तो फिर इसे दुःख किस बातका ? और इन मोहमयी कल्पनाओंमें ऐसा लगता है कि ठीक ही तो है, मेरा ही घर है, मेरे ही लड़के हैं, मेरी ही स्त्री है, मेरे ही माता-पिता हैं, वे सब झूठ कैसे है ? सब कुछ सच लग रहा है। लेकिन इस अशरण, असहाय, अकेले आत्माका जरा भान करके तो विचारो कि इस जगतमें क्या कुछ है ? जब देह ही अपना नहीं है तो ये धन वैभव सोना चाँदी आदिक तो अपने होंगे ही क्या ? लेकिन ममता किस ढंगकी लगी है कि क्या कहा जाय ? अब बताओ

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह जीवकी गंदगी नहीं है तो फिर क्या है ? क्या भगवान ऐसे ही हो लिया जायगा ? कुछ थोड़ासा पाठ कर लिया, मन्दिर आ गए, कुछ धर्ममार्गमें चलने लगे हैं तो इससे कहीं भगवान तो न बन लिया जायगा ? अरे जरा कुछ सोचो तो सही कि अपने भीतरमें कितनी गंदगी भरी है ? भगवानकी भक्ति भी करते जाते, सबसे मोह ममता भी करते जाते तो फिर भला बतलाओ काम कैसे सरे ? आजकल तो कोई-कोई प्रेमको भी धर्म कहने लगे ? सो देखो—एक तो वैसे ही सारा जगत अंधा बन रहा है। इसे कुछ मार्ग ही नहीं सूझता, और फिर उसकी आँखोंमें धूल झोंक दें तो अब उसे मार्ग क्या मिलेगा ? तो यह सोचो कि मेरेमें जो कुछ भी भाव उठते हैं रागके, प्रीतिके, किसी भी प्रकारके, तो ये तो इस संसारमें रुलानेके ही कारण बनेंगे। यदि अपने आपके विभावोंसे प्रेम नहीं है तो फिर आपका आत्मा स्वच्छ है, साफ है, सम्यक्त्व जगा है, और संसारसे पार हो जायगा।

क्षायिक भावकी शाश्वत निर्मलता—इस प्रसङ्गमें अपने आपकी परख चल रही है सब। क्या-क्या भाव होते हैं जीवमें ? अरे किस-किस प्रकारके भाव चलते हैं ? विपक्षी कर्मों का जब क्षय हो तब क्षायिक भाव रहता है और जब विपक्षी भावकर्म ऊधम मचाये रहते हैं तो संसारमें भटकना रहता है। जब कर्मोंकी अत्यन्त विरक्ति हो जाय तब जो आत्माका भाव होता है उस ही को क्षायिक भाव कहते हैं। क्षायिक भाव ऐसा पवित्र भाव है जहाँ मलका नाम नहीं। जैसे किसी शीशोमें तेल भरा हो, उसमें तेलकी सारी गंदगी नीचे बैठ गई हो, साफ स्वच्छ तेल रह गया हो, उस साफ स्वच्छ तेलको किसी दूसरी शीशीमें भर लिया जाय तो उसमें कोई गंदगी नहीं रहती, वह अत्यन्त निर्मल होता है। ऐसे ही समझो कर्मके क्षयसे क्षायिक भाव भी अत्यन्त निर्मल होता है। कर्म ही नष्ट हो गए, आत्माका विशुद्ध भाव प्रकट हुआ है, फिर यह परिणाम, फिर यह निर्मलता कभी भी नष्ट नहीं होती, क्योंकि निर्मलताको नष्ट करनेका कारण है कर्म। वह कर्म रहा नहीं तो वह सदा निर्दोष है, निर्मल है।

यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम् ॥९७०॥

क्षायोपशमिक भावका परिचय—इसके क्षायोपशमिक भावका स्वरूप कहा है। जैसे कोई आदमी घरमें रह रहा है और घरको समझ नहीं पा रहा है तो जैसे वह पिचका हुआ सा रहता है, ऐसे ही क्षायोपशमिक भाव तो रोज बन रहे हैं, धड़ाधड़ चल रहे हैं और उनको नहीं समझ पाता कि यह क्षायोपशमिक भाव है। तो यह भी एक पिचका हुआसा यत्र-तत्र डोलता है, अपनी कल्पनायें बनाता है। किसीसे प्रीति दूर करनेका उपाय क्या होता है कि उसके अवगुण समझमें आने चाहिएँ, प्रीति दूर हो जायगी। तो इसी प्रकार आवश्यकता है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हमें कि आत्मामें जो ये भाव उत्पन्न हो रहे हैं क्षायोपशमिक भाव, इनसे हमें प्रीति हटाना चाहिए। जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान—देख लिया, सुन लिया, सूंघ लिया, स्वाद लिया, छू लिया और उस ज्ञानमें मस्त रहते हैं, लोग आनन्द मानते हैं, सनीमा देख रहे हैं, बड़े खुश हो रहे हैं और कितनी प्रेमभरी बातें सुन रहे हैं, जो अपने दिलको सुहाती जायें, तो रागसे हटनेकी जिसमें बात ही न की जाय, राग ही सुहाता रहे, कोई सुगंध या कोई वातावरण हो तो बड़ा सुहाता है, स्वाद बड़ा सुहा रहा है, ये इन्द्रियज्ञान बहुत सुहा रहे हैं। ये सुहानेके लिए नहीं बने। इनसे हटनेका भाव बनाये रखें। इस क्षोभका कारण इन्द्रियज ज्ञान हैं। मेरी बरबादीके करने वाले ये ज्ञान हैं जो इन्द्रियके द्वारा उत्पन्न होते हैं। जो विचार बनता है, जो ज्ञान जगता है, जो कल्पनायें उठती हैं इन सबसे निवृत्त होनेकी भावना होनी चाहिए और यह निवृत्त होनेकी भावना किस बलपर हो ? स्वभाव और विभावमें भेदज्ञान करो। आत्माका स्वभाव भाव केवल प्रतिभास मात्र है, एक अविशेष जानन ज्ञाताद्रष्टा रहना है, परापेक्ष ज्ञान मेरा स्वभाव नहीं है। जिसकी उत्पत्तिमें इन्द्रियकी अपेक्षा हो वह ज्ञान मेरा स्वभाव नहीं। यदि मैं इनकी प्रीति छोड़ दूँ तो मैं स्वाभाविक भावका अधिकारी बन जाऊँगा। किसीसे कोई पुरुष खुश हो जाय, प्रसन्न हो जाय, और मानो इतना प्रसन्न है कि वह राज्य तक देनेको तैयार है और उससे कहा जाय कि तू माँग जो चाहता है, और वह माँग ले १००-५० रुपये, तो उसे ये मिलना कुछ कठिन बात है क्या ? अरे इतना माँगनेसे वह कितना घाटेमें रहा सो समझ लीजिए। मेरा स्वभाव है अनन्तज्ञान, अनन्तआनन्द। कुछ धर्म किया, कुछ पुण्य हुआ, कुछ भावना जगी, बात बनी, प्रसन्नता बनी, ऐसी योग्यता आयी हममें आपमें कि अगर चाहें तो मोक्षमार्ग बना सकते, सदाके लिए संसारसंकटोंसे छूटनेका उपाय बना सकते, पर यह माँग बैठा थोड़ीसो कोई विद्या, थोड़ीसी कला, यह इन्द्रियज्ञान, रुचि कर बैठा इसकी ही। तो बस इतना ही रह गया वह। अनन्तआनन्दके लाभसे वंचित हो गया। तो इन्द्रियजन्य ज्ञानोंमें हमारी प्रीति जो हो रही है, यह हमारी बड़ी हानिका कारण है।

क्षायोपशमिक भावकी वैकृतता व हेयता—यह छद्मस्थोंका ज्ञानादि क्षायोपशमिक भाव है और वह बनता किस तरह है कि सर्वघाती स्पर्धकोंका तो उदयाभावी क्षय हो अर्थात् उदयमें आये तो तुरन्त एक समय पहिले ही अन्य-अन्यरूप प्रकृति बनकर खिर जाय, वह अपना फल ही न दे सके तथा उन्हीं सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उपशम हो और देशघाती स्पर्धकका उदय हो तब क्षायोपशमिक भाव होता है। जैसे हम आप लोगोंके जो मतिज्ञान बन रहा है, श्रुत-ज्ञान बन रहा है वह कैसे बनता ? उसके निमित्तका विश्लेषण कीजिए। मतिज्ञानावरण कर्म जैसे कि सभी ज्ञानोंके आवरण कर्म होते हैं—५ ज्ञान हैं तो ५ आवरण कर्म हैं, तो मति-ज्ञानावरण कर्ममें अनेक वर्गणायें पड़ी हैं। कुछ तो हैं सर्वघाती, कुछ हैं देशघाती। सर्वघाती

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्पर्धकका तो काम है कि सर्वघात कर देना, कुछ भी गुण न रहने देना, यदि सर्वघातीका पूर्ण उदय हो जाय तो यह जड़ बन जायगा। ऐसा होता नहीं कभी। तो सर्वघाती स्पर्धकोंका तो उदयाभावी क्षय है, लेकिन देशघाती आदि ज्ञानावरण हैं, उनका उदय है तब मतिज्ञान बनता है। जिस ज्ञानपर हम इतना गर्व करते हैं, अपना बड़ा कौशल दिखाते हैं। मेरे समान कौन है जगतमें। अरे वह ज्ञान ऐसा हेय ज्ञान है, उसकी जो प्रीति करता हो, उसके मिथ्यात्व है। भूल होना भूल है और भूलको सही मानना यह भी तो भूल कहलाती है। सबसे बड़ी भूल क्या है बतलावो ? दो चीजें सामने रख लो–(१) भूल जाना, (२) भूलको सही मानना। इन दो भूलोंमें सबसे विकट भूल क्या है ? भूल जाना बड़ी भूल नहीं कहलाती, पर भूलको सही मानना यह सबसे बड़ी भूल कहलाती है। तो भूल तो कहलाती है राग और भूलको सही मानना कहलाता है मिथ्यात्व, जो भूला हुआ है वह जल्दी सही बन सकता है, पर जो भूलको सही मान रहा है उसका सही बनना बड़ा कठिन है। तो ऐसा प्रकाश पाइये कि जो ये नाना भाव उत्पन्न होते हैं ये मेरे लिए मल हैं, दोष हैं, उनमें प्रीति नहीं करना है। रुचि बनायें तो अनादि अनन्त शाश्वत शुद्ध चैतन्यस्वभावकी। क्षायोपशमिक भाव क्षय और उपशमकी एक मिश्र अवस्था है। तब ही इसका नाम मिश्रभाव भी है। यों समझिये कि जैसे ताजे तेलकी शीशीमें निर्मली डाल दी तो उसमें कुछ गाढ़ बैठ रही है और कुछ उभड़ रही है। ऐसी जो स्थिति होती है वह है एक मिश्र दशा, ऐसे ही क्षायोपशमिक भावमें जो क्षय हो रहा है उदयाभावी क्षय अथवा उन ही का उपशम तो इतना तो ठीक है और जो उदय चल रहा है देशघाती प्रकृतिका, उतना वह मैल है, ऐसी मिश्र अवस्था क्षायोपशमिक भावमें होती है।

कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ।
नाम्नाप्यौदायिकाऽन्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान् ॥९७१॥

औदयिक भावका परिचय और उसके दुःखरूपत्वकी घोषणा—इस श्लोकमें औदयिक भावका स्वरूप कहा जा रहा है। औदयिक भावकर्मके उदयसे जो भाव जीवके होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं। औदयिक भावसे कर्मबन्ध होता है। औपशमिक भावसे कर्म नहीं बँधता, क्षायोपशमिक भावसे कर्म नहीं बँधता। क्षायिक भावसे कर्म बँधता। कर्मका हेतु औदयिक भाव है। जो अपने दुःखका हेतु है। जो स्वयं दुःखमय है, ऐसे भावोंके बारेमें कुछ जानना चाहिए या नहीं ? जिस आगसे हम जल रहे हैं, जिस आगपर हमने पैर रख दिया है उससे हमें हटना है कि नहीं ? जानना है कि नहीं ? लो यहाँ तो जबरदस्ती जानना ही पड़ता है। आगपर पैर रखा तो जबरदस्ती मुझे जानना ही पड़ेगा। सब जानते हैं। खूब तेज गर्म पानी या दूध हो, गिलासमें भर दिया, तुरन्त ही पी लिया, नहीं पिया गया, जीभ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जल रहो, लो उसे तो जानना ही पड़ेगा कि यह बहुत तेज गर्म है, मगर ये जो औदयिक भाव जीवके बन्धके कारण हैं, दुःखके कारण हैं, दुःखरूप हैं उनको जाननेकी ओर प्रमाद कर रहे हैं कि वास्तवमें क्या हैं ये औदयिक भाव ? ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें ये सारे भाव औदयिक भाव हैं। जिस समय कषायें जगती हैं उस समय यह जीव खुद दुःखी हो जाता है, और कषायें होनेसे आगामी कालके लिए कर्म भी बँध जाते हैं, और कषायें जब जगती हैं तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। क्रोध कषायमें सारे गुण भस्म हो जाते हैं। मान कषाय में क्या उपमा दी जाय कि क्या बन जाता है ? उसे बेवकूफ शब्दसे कह लीजिए। उसको तो इस देहमें ही आत्मीयताकी बुद्धि है उसे तो आत्मस्वरूपकी कुछ खबर ही नहीं है। स्वयं दुःखी हो रहा, उसके संगमें और भी दुःखी हो रहे, अरे कुछ परोपकारी भी हो, किसी दूसरेके कुछ काम आये तो थोड़ा बहुत मान फब भी जाय, मगर कामका भी नहीं, किसीके काममें भी नहीं आता और मन ही मन अभिमान बनाये रहता है तो वह मानमें समझ रहा है शेख-चिल्लीकी भाँति कि मैं सब कुछ हूं, लेकिन बनता कुछ है, नहीं तो दुःखी होना पड़ता है। कर्मबन्धन कितने होते हैं ? मायाचार जिसके जगता है उसने बोलभर दिया वहाँ शान्ति नहीं मिलती, और लोभकी दशाका तो बखान ही क्या करें, निरन्तर दुःखी रहता है, अन्याय भी कुछ नहीं गिनता, जिससे व्यवहार चलता हो, जिसमें कुछ भी सम्बंध बना हो उसपर अन्याय किया जाय और चित्तमें जरा भी विचार उत्पन्न न हो। निर्दयताका कारण तो वह लोभ कषाय है। तो ये सब कषायें कितनी अपवित्र हैं, कितना दुःखके कारणभूत हैं ? यह सब क्या है ? औदयिक भाव ही तो है। इन औदयिक भावोंसे हमारी रुचि न जगे। द्वेष औदयिक भाव है, प्रेम औदयिक भाव है, मोह औदयिक भाव है। इसमें रुचि बने तो इसका कल्याण हो ही न सकेगा। वह मिथ्यात्व है। भूल हो जाय और भूलमें सहीका अनुभव करे तो उसे फिर क्या गुंजाइश है कि वह सम्हल सकेगा। ऐसे जो विचित्र नाना प्रकारके कर्मके उदयसे होने वाले भाव हैं इसे कहते हैं औदयिक भाव, महा दुःखरूप अपवित्र भाव हैं। ऐसे भावोंसे संसारमें जन्ममरण भोगना पड़ रहा है।

कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥६७२॥

पारिणामिक भावका परिचय व महत्त्व—जीवके भावोंका वर्णन चल रहा है, किसका चल रहा है ? अपने आपका। मेरेमें अपने आपमें क्या भरा हुआ है उसकी यहाँ प्रसिद्धि की जा रही है। देखो किसी भी पदार्थमें दो तरहकी बातें हो सकेंगी। एक तो स्वयं उस पदार्थके सत्त्वके कारण अपने ही आप अपने आपमें जो भी एक सहजभाव हो, एक तो वह, दूसरी बात हो सकती है कि किसी अन्य पदार्थका निमित्त पाकर, संग पाकर कुछ अपने स्वभावके

http://sahjanandvarnishastra.org/

विरुद्ध भी बन बैठता हो, ऐसी दो ही बातें सम्भव हो सकती हैं। तो जीवके सम्बंधमें इन्हीं दोनों बातोंपर प्रकाश डाला जा रहा है। जीवमें ५ भाव होते हैं—(१) औपशमिक, (२) क्षायिक, (३) क्षायोपशमिक, (४) औदयिक और (५) पारिणामिक। इनमें से चार भावोंका वर्णन कुछ किया जा चुका है। अब यहाँ पारिणामिक भावकी चर्चा कर रहे हैं। पारिणामिक भाव कहते हैं उसे कि कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखकर स्वयं अपने आपमें जो भाव हो सकता हो उसका नाम है पारिणामिक भाव। इस भावकी इस जीवको दृष्टि नहीं मिली, आज तक इस भावका यह दर्शन न कर सका। और यही कारण है कि धर्म के नामपर बहुत-बहुत बातें करनेपर भी, बहुत श्रम करनेपर भी न तो मोह मिटा और न कषायें मिट सकीं। और जैसे कि लोग कहते हैं कि देखो अमुकको पूजा करते हुए बीसों वर्ष गुजर गए, मगर उसे गुस्सा बहुत अधिक आता है। देखो—अमुकको स्वाध्याय करते हुए इतने दिन हो गए, मगर उसकी कषायें अभी तक नहीं गईं। अनेक तरहकी बातें लोग करते हैं। त्याग मार्गमें आये हुए देखो बीसों वर्ष हो गए, मगर अभी तक इसे शान्ति नहीं मिली। तो ऐसी घटनाका कारण क्या है? अरे जो शान्तिका आधार है अपना सहज स्वभाव, पारिणामिक भाव, उसकी दृष्टि इसे नहीं मिली। अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान कारणप्रभुका दर्शन न हो सका। आखिर जैसा संग होगा वैसी ही तो बुद्धि बनेगी। जीवोंने इन विभावोंका संग किया। इन विकारोंसे आत्मामें जो रागद्वेष भाव हुए, उनका संग किया, पर पारिणामिक भावका संग नहीं किया। तो अज्ञानियोंके संगसे तो बुद्धिबल विघटता है और जो ज्ञानमय तत्त्व है, सहजस्वभाव है उसका संग यदि यह उपयोग पा गया होता तो संसारके सारे संकट समाप्त हो गए होते। एक बार भी ऐसे अमूल्य नरजीवनको पाकर यदि साहस न किया जाय, इस बातका कि मैं तो अपने आपके अन्तःप्रकाशमान प्रभुके दर्शन करके ही रहूंगा, इस साहस के बिना नर-जीवन व्यर्थ है। इसके लिए कितनी तैयारी करनी है? यह तैयारी करनी है कि इस प्रभुसे अतिरिक्त अन्य कोई भी जो भाव है, पदार्थ है, उनमें मैं लगाव न रखूंगा। मेरी रुचिका विषय होगा तो मेरा यह ज्ञायकस्वभाव ही, मेरी दृष्टिका विषय हो तो यह ज्ञायकस्वभाव ही।

बाह्यमें शरण ढूंढ़नेकी व्यर्थता—अब तक जगतमें बहुतोंकी शरण ले लेकर देख डाला। पर लाभके बदले हानियाँ ही मिलीं। मित्रजन परिजन कितने ही ढूंढ़ डाले और व्यग्रता कर डाली सोच-सोचकर इनका शरण और जब-जब भी कोई कषाय उमड़ती है, किसीका भी बाह्यमें शरण ढूंढ़ने जाते हैं, मगर हालत क्या होती है जैसी कि एक फुटबालकी हालत होती है। जिस लड़केके पास फुटबाल जायगा, शरण लेनेके लिए बस वहींसे ठोकर लगेगी। बस जगतमें यही तो हो रहा। ये जीव मोहरूपी मदिराका पान किए हुए हैं ना, तो उस ठोकरको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

प्रमाद मान रहे हैं। दुःखी होते, कष्टमें होते, आकुलित होते, और यों ब्रह्मस्वरूपके दर्शनसे वंचित रहे। ये जीव बाह्य पदार्थोंसे प्रीति करनेमें ही अमृत मानते रहे। ये यह न समझ सके कि यह प्रेम एक ऐसा पाप है कि जिसके बलपर द्वेष भी आता है और संसारकी अनेक विडम्बनायें बनती हैं। वीतराग धर्ममें रुचि न हुई, राग रागमें ही इन्होंने मौज माना। फल क्या हुआ कि जो आज प्रत्यक्ष दिख रहा है। जैसे कोई तेज शराब पिये हो अथवा प्रेमका अंध है, कुछ नहीं दिखता, कष्ट अनेक होते हैं, फिर भी सुहाता है। मदिरापायी उन्मत्त पुरुषोंकी यह ही हालत है। कामियोंकी यह ही हालत है तो ऐसे भावोंमें तो इसने प्रीति रखी, मगर विशुद्ध पारिणामिक भाव याने आत्मामें अपने आप ही सहज जो भावस्वभाव है जानन देखन मात्र, उसकी दृष्टि तक नहीं की, अनुभवनेकी बात तो दूर रही। कुन्दकुन्दाचार्य बताते हैं कि इस जीवने जो कि रागद्वेषकी कीलीपर चाककी तरह चक्कर लगा रहा, इसने काम भोग सम्बधी, इन्द्रियके विषयसम्बंधी कथायें सुनीं, उनका ही परिचय किया और उनका ही अनुभवन भोगना किया, पर अपने आपमें प्रकाशमान उस प्रभुताका यह दर्शन न कर सका। अहो, ऐसे परम पवित्र प्रभुताके दर्शन करनेके लिए हमें बाहरी इन्द्रियविषयोंकी प्रीतिका बलिदान करना होगा। यहाँ तक बताया है आचार्यदेवने कि मनुष्यसमागम भी इसके लिए बाधक है। लोगों का प्रसंग होगा तो उससे वचनव्यवहार होगा, उससे आत्मामें तरङ्ग होगी, उससे मनमें विभ्रम बनेगा और उस विभ्रमके कारण इस जीवको प्रेममें या द्वेषमें, पापमें लगना पड़ेगा। हालत यह ही होती जो संसारमें होती।

धर्मकी, लाभकी, पार होनेकी एक कुञ्जी—एक आप कुञ्जी पकड़िये, किसी भी परका आश्रय किया जायगा तो उसमें कर्मबन्ध होगा और किसी भी परका आश्रय न होगा, तो वहाँ कर्मोंसे मुक्ति प्राप्त होगी। कुञ्जी एक है, सब जगह घटा लो—जो भक्तिकी बातें हैं, जिसे कि लोग धर्म कहते हैं, यह भक्ति धर्म कहलाती है, पर किस अंशमें क्या होता है, इसका मर्म देखो। विषय कषायोंसे निवृत्ति हुई, प्रभुके वीतराग स्वरूपकी ओर दृष्टि हुई, इतना तो धर्म है, पर जितना अपने आपके सहजस्वरूपका आश्रय छोड़कर कहीं परमें उपयोग लगा, इतने मात्रसे तो वहाँ भी बंध हो रहा है। एक कुञ्जी है जहाँ परकी ओर उपयोगका आश्रय लिया वहाँ बंध है। जहाँ परका बंध नहीं है वह स्वानुभवकी स्थिति है। एक अपनेको दुनियामें असहाय जान लो, मेरा कोई सहाय नहीं। मेरा मात्र मेरा ज्ञान सहाय है। ज्ञानको छोड़कर अन्य कोई सहाय नहीं। अन्यकी ओर तो जहाँ तक हो बुद्धि न जाय, उनसे निवृत्ति रहे, ऐसे अपने कार्यक्रममें चलें। अपनी कुञ्जी देखिये—पारिणामिक भाव क्या हुआ कि मेरा जो सहज स्वरूप है, स्वभाव है, जो उदयसे नहीं, उपशमसे नहीं, क्षयसे नहीं, क्षयोपशमसे नहीं वह पारिणामिक भाव मेरेमें अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण है। इसका आश्रय करो, संसारसे

http://sahjanandvarnishastra.org/

पार हो जावोगे।

स्वयंका सृष्टापन—लोग कहते हैं कि इस सृष्टिको करने वाला कोई एक ईश्वर है। अरे यही मेरेमें विराजमान जो यह एक स्वरूप है, यही मेरा ईश्वर है, और इसीसे सारी सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। अब चूँकि यह आत्मस्वरूप, यह सहज ज्ञानस्वरूप सर्वजीवोंमें एक समान है। एक समान होनेके कारण सब जीवोंकी व अपनी सुध भूल गये और यह रह गया कि एक ज्ञान एक ब्रह्म ही सारे जगतमें है। अच्छा और आगे चलो—इसकी भी सुध भूल गये, फिर कुछ समय बाद और वह ब्रह्म, वह ईश्वर जो सृष्टिका करने वाला है वह हम ही स्वयं हैं। यहाँ ही हैं, ऐसी बात भूल गए, तब यहाँके धामको छोड़कर कहीं बाहर दृष्टि गड़ा ली है—कोई एक ईश्वर है जो सबकी सृष्टि कर रहा है। देखो जब किसी घटनामें छान-बीन करने चलेंगे तो वहाँ आपको तथ्य मिल जायगा। क्या तथ्य निकाला ? मेरा जो स्वरूप है यह ही ईश्वर है और इसमें उत्पाद व्ययका स्वभाव पड़ा हुआ है यह तो एक भी समय खाली नहीं रह सकता। न परिणमेगा कभी तो वह अवस्तु ही रहेगा। वस्तुस्वरूपका सम्यग्ज्ञान होना एक ऐसा अलौकिक वैभव है कि जिसके समक्ष तीन लोककी सम्पदा भी तृणवत् है। संपदा क्या काम आनेकी है। मोह मोहमें मनुष्य अपनेको बरबाद कर लेता है, मलिन किए है। यह विपरीत समझना है। अपने दादा बाबाकी ओर देखो—उन्होंने अपनी सारी जिन्दगी मोहमें बितायी, क्या लेकर गए ? क्या मिला उन्हें ? जहाँ होंगे, जिस पर्यायमें होंगे वैसी नई बात चलने लगी होगी। उनको मिला क्या ? तो उनके उदाहरणसे अपन खुद शिक्षा ले लें। पुरखोंपर बीती हुई बातोंसे एक शिक्षा ले लो। जो हाल उनका हुआ, सारी जिन्दगी मोह मोहमें रहे और अन्तमें वे रीते गए और रीते ही नहीं गए, बल्कि उल्टे बनकर गए। ऐसे ही इस जीवनमें मोह मोहमें ही समय गुजारेंगे तो रीते ही जायेंगे, उल्टे जायेंगे, खोटे होकर जायेंगे। इन विपदाओंसे बचनेके लिये धर्मामृत पियो। कैसा है यह धर्मामृत जो एक अपनी दृष्टिके द्वारा अनुभवमें आता है, पीनेमें आता है, यही तो है प्रभु। अंतःविराजमान जो एक शान्तस्वरूप ज्ञानमात्र तत्त्व है वही है मेरा रक्षक, वही है मेरा पालनहार। मेरे उपयोगको सुखी शान्त आनन्दमग्न कर सकनेका यदि सामर्थ्य है तो एक मेरे इस ही स्वरूपमें है, बाहरमें कहीं नहीं है।

ज्ञानीका अभय निजधाममें निवास करनेका पौरुष—जैसे सावनके महीनेमें तेज वर्षा हो रही हो, बिजली चमक रही हो, बादल कड़क रहे हों और कोई एक अच्छे आरामके कमरे में पड़ा हो तो वह उससे बाहरकी ओर जरा सिर उठानेमें भी विपत्ति समझता है। झंझा-वात चल रहा है, बड़ी-बड़ी बूंद बरस रही हैं, गर्जनके शब्द चारों ओर उठ रहे हैं और वह बैठा है अपने कमरेमें तो वह कमरेसे बाहर झूकनेमें भी विपत्ति समझ रहा है। ऐसे ही इस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

विपत्तिभरे संसारमें जहाँ जन्ममरण इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, सम्मान अपमान आदि नाना प्रकारकी जहाँ विपत्तियाँ हैं, ऐसी विपत्तियाँ जहाँ खूब बरस रही हों और मिल जाय उसे अपने आत्माका निजधाम, जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि जिसके नाम, ऐसा मिल जाय निज धाम तो वह पुरुष अपने धामसे बाहर उपयोगको जरा भी ढूकनेकी बातको विपत्ति समझता है। आप जब उपसर्ग और परीषहोंका वर्णन सुनते हैं—अहो, सुकुमालने इतने उपसर्ग सहे। गीदड़ी खा रही है, जरा भी ललकार देते तो गीदड़ीका कितना बल ? भाग जाती। गजकुमार मुनिपर उनके स्वसुरने सिरपर आग जला दी, अंगीठी रख दी, क्या व सिर नहीं हिला सकते थे, लेकिन उन मोक्षगामी पुरुषोंने उन ऊर्ध्वगामी पुरुषोंने अपने सच्चे धामसे बाहर उपयोगका झाँकना विपत्ति समझा। वे क्यों उधर उपयोग देते ? वे क्यों उधर झाँकते ? अरे वे तो अपने आपके निजधाममें पवित्र आनन्दका अनुभव कर रहे थे। तो जिसको अपने पारिणामिक भाव, जिसको इस कार्यप्रभुके दर्शन हुए हैं, बस संसार उनका ही मिटेगा। एक ही उपाय है—बाह्यका आश्रय छोड़ें, स्वयंमें स्वयंका आश्रय मिल जायगा। यह है जैनधर्मका मर्म। कितने ही कैसे-कैसे रत्न पड़े हैं, हमपर आचार्योंने कितनी बड़ी करुणा की है, कैसा ही अपना अनुभव यहां ग्रन्थोंमें छोड़ गए हैं, कितना उनका उपकार है, और यहाँ ये मनुष्य प्रायः इतने उन्मत्त हैं कि उनका लाभ नहीं ले सकते। सारा वैभव एक ओर, आत्मदर्शनकी बात एक ओर। आप बताओ रुचि किस ओर आपको अधिक है ? धन वैभवका रखना, जोड़ना, उसको देख-देखकर खुश होना, यही रुचिकर हो रहा है तो फिर कह देना चाहिए कि मुझे मनुष्य मत बनाते, मेरा एक भव मनुष्यभवकी गिनतीमें व्यर्थ चला जायगा तो मेरे इस त्रस पर्यायमें कमी एक नरभवकी हो जायगी। सोच लो—आपको क्या रुचिकर है ? होना चाहिए आत्मदर्शनकी बात रुचिकर। उसके सामने सारी बातें न कुछ होनी चाहिएँ। लेकिन जिसको आत्म-अध्ययनकी बात न कुछ सी रह गई है और ये बाहरी धन वैभवके प्रसंग सब कुछ हो गए, बस वहाँ हाल क्या होगा ? उसके लिए संसारके ये अनन्ते जीव-जन्तु उदाहरण पड़े हुए हैं। उपेक्षा बनाओ धन वैभवकी, तुम इस धन वैभवको नहीं कमाते हो। पूर्वकृत पुण्यका उदय है तो धन आ जाता है, तुम्हारा दिमाग उन्हें पकड़कर नहीं लाता, और मैं अपने दिमागसे इतना धन कमा लेता हूं, इतना काम कर लेता हूं, इस प्रकारका जो भाव बना, अध्यवसान बना यह तो बरबादीकी बात है, उत्थानकी बात नहीं है। तो इस पारिणामिक भावमें जो मेरे लिए सर्वस्व है, जिसके बिना मेरेको मुक्ति मिल न सकेगी उस अन्तःविराजमान प्रभुके दर्शनके लिए उद्यमी हो जावो।

सहजपरमात्मतत्त्वकी उत्कृष्टता जाने बिना धर्मलाभका अभाव—जिसके चित्तमें यह भाव नहीं भरता कि इस धन वैभवसे बढ़कर मेरा सहज भाव है उसको धर्मकी बात मिल ही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं सकती। यों तो दिल **बहलाना, तफरी** आदिक करना यह तो कुलपरम्परासे चला आया है। मन्दिर जाना चल रहा है, आदत बनी हुई है, कर रहे हैं धर्मकी बात, मगर मोक्षमार्गका लाभ नहीं मिलता। मोक्षमार्गका लाभ जगतके सारे वैभवोंकी उपेक्षा जब तक न हो तब तक आत्मरुचि क्या ? और जब आत्मरुचि नहीं तब मोक्षमार्ग भी नहीं। जितने दिखने वाले लोग हैं, जिनके बीच आप कुछ व्यवहार करते हैं, सबके सब ये मूर्तियां आपको यह जंचने लगें कि ये तो मायामय हैं, ये तो असमानजातीय द्रव्यपर्याय हैं, वास्तविकता इनमें क्या है ? जब तक हम यों न समझें तब तक समझो कि हमने अभी धर्म का मार्ग नहीं पाया। मेरे लिए मैं ही हूं इसीको ही निगाहमें रखकर बोलो—तुम ही माता हो, तुम ही पिता हो, तुम ही गुरु हो, तुम ही बन्धु हो, तुम ही रक्षक हो, सर्व कुछ तुम हो हो, ऐसी अपनी ओर दृष्टि करके अपने आपमें विराजमान प्रभुकी भक्तिमें तो आयें। हमारे पूज्य परमात्मदेवकी दिव्यध्वनिमें यह ही उपदेश हुआ है। उन्होंने यह कभी उपदेश नहीं किया कि तुम मेरी ही भक्तिमें रहो, मेरेसे ही गिड़गिड़ाते रहो, मेरेसे प्रार्थना करते रहो तो तुमको सुख मिलेगा, मुक्ति मिलेगी। जब कि अन्य लोगोंने डटकर केवल यह ही कहा कि तुम बस मेरेको भजो, जरा भी और कुछ मत सोचो, तुमको मुक्ति दिला देंगे। कैसा यह निष्पक्ष अनुशासन है, इसे पाकर भी यदि जड़से प्रीति नहीं मिट रही और अपने चैतन्यस्वरूपसे प्रीति नहीं जग रही तब क्या ठिकाना होगा ? देखो—अपने आपमें अपने प्रभुको। यह है पारिणामिक भाव। आत्मद्रव्यकी जो निज सहज प्रकृति है, स्वभाव है, स्वरूप है वह है पारिणामिक भाव। यह भाव न उदयसे है, न कर्मके उपशमसे है, न क्षयसे है, न क्षयोपशमसे है।

शिवसृष्टिमें कारणसमयसारकी भूमिका—दो तीन मिनटको, कुछ कठिन भी हो तो भी ध्यान लगाकर सुनो एक मर्मकी बात, जो प्रभु भी हो गए हैं उनमें भी जो निरंतर केवलज्ञान अनन्त आनन्दकी परिणतियाँ उठा करती हैं वे प्रतिक्षण इस कारणसमयसारको, इस कारणप्रभुको, इस परमपारिणामिक भावको उपादान करके, ग्रहण करके वे तरंगें वे शुद्ध तरंगें वहाँ उत्पन्न होती रहती हैं। ऐसा ही यह शाश्वत कारणभूत पारिणामिक भाव है जो कभी भी नहीं छूट रहा तो जिसका आलम्बन लेकर केवलज्ञान अनन्त आनन्द और प्रभुताका विकास हो रहा है वह कहीं मुझसे भागा नहीं है, यह बड़ा कृपालु है, निरन्तर रह रहा है। सदा इस बाटमें रहा करता है कि यह प्राणी, यह उपयोग मेरी ओर जरा तो दृष्टि करें, मुस्कराकर प्रसन्न होकर इसको सदाके लिए आनन्दमग्न कर दूंगा। ऐसा यह प्रतीक्षामें निरंतर पड़ा हुआ है, अलंकार भाषामें इसे सुनो। सारांश यह है कि मेरेको आनन्द देने वाला, विकास करने वाला, समृद्ध बना देने वाला, इस उपयोगको सम्पन्न बना देने वाला प्रभु निरन्तर मेरे समीप है, मेरेमें है। बस जरा अपने उपयोगको थोड़ा अपनी ओर मुड़नेकी जरूरत

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है । मुड़ता क्यों नहीं ? बाह्यमें आशा लगायी है पुत्रमें, स्त्रीमें, धन वैभवमें । ५० हजार कमा लिया, लाख होना चाहिए, लाख हो गए तब क्या ? तब भी ऐसा नहीं है कि वहाँ तक रह जायेंगे, आगेकी इच्छा बन जायगी । मन डोला ही करेगा और हो गए करोड़पति, हो गए अरबपति । जब तक अपने आपका इन बाहरी पदार्थोंमें प्रेम रहेगा तब तक इस पापके फलमें इस आत्माको आकुलता ही रहेगी, अनाकुल नहीं रह सकता । तो यह उपाय करना है, दृढ़ संकल्प बना लो, थोड़ा भी ज्ञान जगा हो तो उस ज्ञानका भी लाभ मिले । इतना भी ज्ञान यदि बना है कि सचमुच किसी भी बाहरी पदार्थसे मेरे आत्माको लाभ नहीं है । तो यह दृढ़ संकल्प कर लो, यह ही अपना निश्चय बना लो । पर यह ऊपरी बात नहीं हो ऐसी कि जो किसी मुर्दाको फूंकने मरघटमें जाय तो वहाँ वैराग्यके परिणाम होते हैं । लगता है ऐसा क्योंकि मर गया, चला गया, और जैसे ही फूँककर आये, किसी तालाब या नदी वगैरामें नहा डाला तो मानो साथ ही साथ वह वैराग्य भी धो डाला । वे मानो इसलिए धो डालते हैं कि कहीं मेरे साथ वह वैराग्य चिपटा न रहे । यदि यह वैराग्य चिपटा रहेगा तो घरमें रहते हुएमें हैरान करेगा । अरे भैया ! ऐसा ही एक दृढ़ निर्णय बना लो, संसारका एक भी परमाणु मेरे आत्महितके काममें न आयगा । मेरा ही आत्मा मेरा ही यह परमात्मप्रभु मेरे लिए शरण है ।

इत्युक्तं लेशतस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक् ।
इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासात्तद्रूपमुच्यते ॥६७३॥

भावोंके नाम एवं सामान्यस्वरूपके निर्देशनके बाद औदयिक भावोंके भेदोंके परिचय के कथनकी सूचना—अब तक इस प्रसंगमें ११-१२ गाथाओंमें जीवके भावोंका नाम निर्देश किया गया है और उन भावोंका सामान्य रूपसे स्वरूप बताया गया है । अब उन भावोंमें से प्रत्येक भावके स्वरूपको कुछ विस्तारपूर्वक कहेंगे । ५ भावोंका विस्तारपूर्वक वर्णन चलेगा, ऐसा ग्रन्थकार यहाँ संकल्प करते हैं । यह एक आराम देने वाली गाथा हो गयी है, क्योंकि इसमें और कुछ नहीं बताया जा रहा । श्रोता अब आराम कर लें और वक्ता भी गल्पकर्ता भी बहुत-बहुत कहनेके बाद आराम कर लें, ऐसी इस गाथामें केवल सूचना मात्र है । सूचना देनेसे कोई कष्ट तो नहीं होता । सूचनाका प्रोग्राम बनानेमें और फिर जिस बातकी सूचना दी गई उसका काम निभानेमें ज्यादा काम करना पड़ता है । सूचना देना तो आसान है, मगर सूचना देना भी आसान नहीं । सूचना देनेका अधिकारी वह है जो पहिले बहुत बड़ी तैयारी कर चुका हो और सूचना देनेके बाद जो कुछ करना पड़ेगा उसकी बात वह पहिले समझ चुका हो तब ही तो सूचना दे सकता है । यह गाथा सूचना देने वाली है । इसके अब तक ५ भावोंका साधारणतया स्वरूप और उसका नाम कहा है । अब उन भावोंका लक्षण पृथक्-पृथक् कहेंगे । भाव बताये गए हैं ५ । किसके ? जीवके । जो जीवमें ही रहें और में न रहें

http://sahjanandvarnishastra.org/

वे ५ बताये गए थे—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक । इन ५ भावोंमें से पहिले किस भावका वर्णन करना चाहिए ? ग्रंथकारको जिसका कि पहिले नाम लिया है, लेकिन इस क्रमकी परवाह न करके ग्रन्थकार अब औदयिक भावकी बात कहेंगे । ऐसा क्यों किया जा रहा है ? उसके भी कई कारण हो सकते हैं । नाम निर्देशमें जो क्रम रखा गया था उसका कारण तो बता दिया । अब वर्णनका क्रम देखिये । औदयिकका पहिले वर्णन कर रहे हैं । इसका कारण सुनो—पहिला कारण तो यह है कि औदयिक भाव विभाव रागद्वेष इनकी शंकापर ही यहाँ ५ भावोंका खुलासा करना पड़ा । स्मरण कर लेना चाहिए कि इस प्रसंगसे पहिले इस चर्चापर छोड़ दिया गया था कि विभावशक्तिका विभावपरिणमन रागद्वेषादिक हैं । तथा इस भागमें सर्वप्रथम यह बात पूछी गई थी तो वह वैभाविक भाव क्या है ? तो उनमें औदयिक भावकी प्रधानता थी । तो मूल प्रसंग जिस पर कि बात चली है वह है औदयिक भाव, इसलिए उसका वर्णन पहिले किया जा रहा है । दूसरा कारण यह समझिये कि समझने वाले तो हम लोग हैं ना ? तो हम लोगोंको जो पहिली बात जिसमें बस रही है उसकी बात सुनानी चाहिए, उसके बाद फिर और और बात भी सुनिये—पहिले अपनी गंदगीका पता तो लगा लो कि मेरेमें क्या गंदगी बसी हुई है ? फिर उसे धोयेंगे तब औपशमिक भाव वगैरा आयेंगे । तो दूसरा कारण यह भी मालूम होता है कि जीव इन भावोंमें अनादिसे खूब चले आ रहे हैं और वे अहितमय हैं, जिनसे मुझे दूर होना चाहिए उन भावोंका पता लगावो । इस कारण सर्वप्रथम यहाँ औदयिक भावका वर्णन करेंगे ।

भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशति ।
चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः ॥९७४॥
त्रीणि लिङ्गानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम् ।
एकम्वाऽसंयतत्वं स्यादेकमेकास्त्यसिद्धता ॥९७५॥
लेश्याः षडेव कृष्णाद्या क्रमादुद्दिशिता इति ।
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम् ॥९७६॥

औदयिक भावके भेदोंका संक्षिप्त नामनिर्देशन—औदयिक भाव किसे कहते हैं ? जो कर्मका उदय होनेपर भाव बने उसका नाम औदयिक भाव है । परेशानी करने वाला भाव औदयिक भाव है । औपशमिक भावसे बन्ध नहीं होता, क्षायोपशमिक भावसे बन्ध नहीं होता, क्षायिक भावसे बंध नहीं होता, और पारिणामिक भाव तो ऐसा मध्यस्थ है कि वहाँ बंधका सवाल क्या, मोक्षकी भी कल्पना नहीं । वह तो केवल एक शाश्वत भाव है । बंध होता है तो औदयिक भावसे होता है । यहाँ इतनी बात जान लेनी चाहिए कि औदयिक भाव तो मोक्षमार्गमें साधन है ही नहीं । औदयिक भावसे मोक्षमार्ग नहीं चलता । मोक्षमार्गके साधन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हैं सही ढंगसे तो वह है औपशमिक व क्षायिक। और क्षायोपशमिक कोई मोक्षमार्गके साधन हैं, कोई सामान्य हैं, लेकिन मोक्षमार्गके साधनभूत भाव बनते हैं कैसे ? पारिणामिक भावके आलम्बनसे। तो पारिणामिक भावका कितना अधिक महत्त्व है कि जिसकी दृष्टि पाये बिना हम मोक्षमार्गमें न चल सकेंगे। खैर, प्रकरण यहाँ यह है कि औदयिक भाव बंधका हेतुभूत हो सकता है। वे औदयिक भाव कितने होते हैं ? उत्तर होगा—असंख्यात होते हैं, अनगिनते होते हैं। अच्छा अनगिनते होते हैं तो जरा उनका नाम तो बताओ। अजी उनका नाम बताने से क्या फायदा ? क्योंकि पूरे तो न कहे जा सकेंगे वे तो अनगिनते हैं। तो अधूरे क्यों रख रहे ? हैं वे असंख्याते, पर नाम जाननेकी चर्चा यहाँ न करें तो फिर उन असंख्याते भावोंको जाति अपेक्षासे संकोच कर दें। कैसा संकोच करना है ? भाव बताये गए हैं २१, वे २१ भाव क्या हैं ? गति ४, कषायें ४, वेद ३, मिथ्यात्व १, अज्ञान १, असंयत १, असिद्ध १ और लेश्या ६, इनमें वही क्रम बताया गया है जो तत्त्वार्थसूत्रमें बताया है—गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतत्वासिद्ध लेश्याश्चतुश्चतुत्र्येकैकैकषड्भेदाः। औदयिक भाव २१ हैं, इसका वर्णन आयगा स्पष्टरूपसे। उसे भली-भाँति समझना है। समझमें भली प्रकार आयगा, क्यों आयगा समझमें अच्छी तरहसे ? अच्छा आपको यदि शरीरमें फोड़ा हो गया तो उसका दर्द आपको अच्छी तरह समझमें आता कि नहीं ?····आता है। क्यों समझमें आता ? आपमें वेदना है, आपको उसका अनुभव है तो वह बात आपकी समझमें आ जायगी। तो भाई शरीरके फोड़ेकी तरह आत्माके कुछ फोड़ोंका वर्णन कर रहे हैं। वह बात क्या आपकी समझ में न आयगी। जल्दी आ जानी चाहिए। यह बहुत आसानीसे समझमें आयगा थोड़ा ध्यान बनाओ और भली-भाँति समझो।

धर्मपालनसे ही मनुष्यजन्मकी सार्थकता—मनुष्यजीवनकी सार्थकता इसीमें है कि हम धर्ममार्गमें कुछ चल सकें, अन्यथा मनुष्य होनेकी जरूरत क्या थी ? कुछ थोड़ा बहुत दान पुण्य किया होगा पूर्वभवमें तो उसका श्रम व्यर्थ किया समझिये। क्योंकि मनुष्य होकर फायदा कुछ न मिला। जिसके धर्मकी धुन न हो, श्रद्धा न हो, आत्महितका चिन्तन न हो ऐसा मनुष्य होना व्यर्थ है। उससे उसको कोई लाभ नहीं ? कोई कहे कि लाभ क्यों नहीं है ? यहाँ मौज आ रहा है, लड़के हैं, स्त्री है, भोजन है, खाते हैं, मस्त रहते हैं, इज्जत है तो लो सुनो—जितनी बातें अभी कही गईं उतनी बातें तो पशुओंमें भी हो सकती हैं। मनुष्यको यदि हलुवा बड़ा मीठा लगता है तो गाय, भैंस आदिक पशुओंको हरी घास अच्छी लगती है। उनके लिए हरी घास आपके हलुवासे कम नहीं है। मौज ही तो चाहिए। जिससे मौज मिले उसके लिए वह बड़ी चीज है। आपको अपना बच्चा भला लगता है तो क्या पशुओंको उनको अपना बच्चा नहीं भला लगता ? जितना सुख आप अपने बच्चेको देखकर मानते हो

http://sahjanandvarnishastra.org/

उतना ही दुःख वे पशु भी अपने बच्चेको देखकर मानते हैं। और बल्कि उस सुखसे भी अधिक सुख गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, कुत्ता, कुतिया आदिक पशु लूट सकते हैं। कुछ थोड़ा रिवाज नहीं है इन तिर्यञ्चोंमें। इन पशुओंकी दुनियामें कि बच्चे हो जायें तो उनका मर्द भी प्यार करे। यह रिवाज तो है मनुष्योंमें। मनुष्योंके अगर बच्चा पैदा हो जाय तो उससे स्त्री भी प्यार करती और पति भी प्यार करता। पर संतान और बच्चेके प्रेममें अगर कोई सुख है तो उससे ज्यादा सुख तिर्यञ्चोंमें है। ज्यादा सुख हम इसलिए कह रहे कि गायने बछड़ेको देख लिया, जरा सूंघ लिया और चाट लिया और फिर आरामसे खड़ा रहती है, अपना मुख चलाती हुई एक वह निश्चिततताका आनन्द लेती है, मगर मनुष्योंमें देखो—तो बच्चेका प्यार तो करते, पर वे एक निश्चिततताका क्षण नहीं पाते। कितना अन्तर है ? और किसका मौज आप बतावेंगे ? इज्जतका। इज्जत उन पशुओंमें भी है। अगर पशुओंमें कोई किसीकी जरा सी बेइज्जती करे तो वे भी लड़ने लगते हैं। तो मतलब यह है कि इज्जतके लिये अगर आप मनुष्यभवमें जी रहे हैं तो मनुष्यभव पाना व्यर्थ है। खानेके लिए जी रहे हों तो मनुष्यभव पाना व्यर्थ। उससे तो पशुओंका जीवन बहुत अच्छा। और काम सेवनके लिए जी रहे हों तो इसमें जितने लोग आसक्ति रखते हों उससे अधिक आसक्ति और सुख वे पशु भी लूटते हैं। आपको लग रहा होगा ऐसा कि मनुष्य तो मनुष्य हैं, बड़े अच्छे हैं और पशु तो ये अट-पटे हैं, चार पैरोंसे चलते हैं, पूंछ नीचे लटकती है, सींगें लगी हैं, मगर गाय, भैंस जैसा दिल बनाकर उनकी ओरसे यदि जानना चाहो तो उन्हें ये आदमी अटपटे लग रहे—ये कैसे दो पैरोंके बल खड़े हैं, ये चलते-फिरते हुएमें कितने अटपटेसे लग रहे हैं····तो किस बातमें आप बढ़कर कहला सकते हैं सो बताओ। धर्म नाम किसका ? आत्माका जो सहज स्वभाव है उसकी दृष्टि होना। धर्मका इतना ही रूप है, बाकी तो सब बवण्डर पड़ा रखा है अनेक मज-हब वालोंने और जुदे-जुदे सबके मजहब हो गए, हो जावें मजहब, लेकिन इस व्यवहारके क्रियाकाण्डोंको करते हुए भी यदि स्वभावदृष्टि है तो वह धर्मका पात्र है।

औदयिक भावोंका नातिसंक्षेपसे नातिविस्तारसे वर्णन करनेका संकल्प—बात यहाँ यह कही जा रही है कि यहाँ औदयिक भावोंका वर्णन चलेगा और वे सब आपको बहुत अच्छी तरह समझमें आयेंगे, क्योंकि वे आपके ही फोड़े हैं, आपके क्लेश हैं, आपकी बरबादी की बातें हैं। उन्हें तो जरा ध्यानसे सुनना ही होगा। क्योंकि उनसे हमें निवृत्त होना है। ऐसे ये २१ भाव यहाँ बताये जायेंगे। उनके सम्बंधमें ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं उनका स्वरूप कहूंगा। न तो उनका संक्षेप ही होगा और न विस्तार होगा। जो वर्णन करेंगे वह बहुत थोड़ा न करेंगे और बहुत ज्यादा भी न करेंगे। अच्छा बताइये आप लोगोंकी पसंदगी किसमें है ? थोड़ा वर्णन करें कि विस्तारसे। तो जिन्हें सुननेसे ऊब आयगी वे तो यही कहेंगे कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

ज्यादा वर्णन न करो। (एक श्रोता वकील बोले—कि वे तो चाहेंगे कि कुछ भी न कहो,···· हँसी) तो देखो भाई थोड़ा सुननेसे पूरी बात समझमें न आ पायगी। और विस्तारसे कहनेमें ऊब आ जायगी। तो ग्रन्थकार भी कितना दयालु होता है कि श्रोताके हितकी बात चित्तमें रखता है और श्रोताके हितकी बात कहता है। श्रोताओंकी अपेक्षा ग्रन्थकारपर अथवा वक्ता पर कितना बोझ होता है, इसका जरा अंदाज कर लो। श्रोताको क्या है ? आँखें मीचो सुनो और आनन्द लूटो और भीतर अपने जो हितकी बात है वह रखते जावो, उनको एक ही काम है, ज्यादा काम नहीं है। ग्रन्थकारको या वक्ताको तो अपनेको भी सम्हाल ले, दूसरेको भी सम्हाल ले ऐसा उद्यम करना पड़ता। दूसरे-दूसरेके ही सम्हालनेसे मेरा भला क्या ? और अपना ही मात्र सम्हाले तो सभामें बैठे क्यों ? ग्रन्थकारकी भी ऐसी ही परिस्थिति है। उनका भी ध्येय जीवोंके हितका है। आखिर ग्रन्थकार भी भाषण ही तो दे रहे हैं वह लिपिबद्ध है तो ग्रन्थकार यह कह रहे कि मैं उन औदयिक भावोंका वर्णन करूँगा जिनका न अत्यन्त संक्षेप होगा, न अत्यन्त विस्तार होगा।

गतिनामास्ति कर्मैकं विख्यातं नामकर्मणि।
चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाधिगीयते ॥६७७॥

कर्मोंकी १४८ प्रकृतियोंमें चार प्रकारकी प्रकृतियाँ हैं—१. नरकगति नामकर्म, २. तिर्यक्गति नामकर्म, ३. मनुष्यगति नामकर्म, और देवगति नामकर्म। ये चार प्रकारके गति-नामकर्म हैं। उनके उदयसे जो अवस्था प्राप्त होती है उसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव कहते हैं अथवा कर्मोंकी ओरसे समझमें न आता हो तो अपनी ओरसे देखो—संसारमें जीव चार प्रकारके पाये जाते हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, ये चार गतियाँ हैं। तो ये चारों गतियाँ जीवके स्वभाव तो नहीं हैं। कैसे मानें कि स्वभाव नहीं हैं। स्वभावकी पहिचान है यह कि जो सहज हो, शाश्वत हो, निरपेक्ष हो वह स्वभाव कहलाता है। सहज हो, जबसे वस्तु है तब ही से वह भाव है। शाश्वत हो, अनादि अनन्तकाल तक रहता हो और निरपेक्ष हो, किसी परकी अपेक्षा न रखता हो, यह बात इन चारों गतियोंमें है ही नहीं। क्या जबसे यह मनुष्य है तब ही से यह जीव है ? अरे जीव तो अनादि अनन्त है। क्या यह दिखने वाला मनुष्य सदा रहने वाला है ? नहीं, क्या निरपेक्ष है ? नहीं। कर्मका उदय हुआ तब ये धन वैभव मिले, व्यवहारकी चीजें इकट्ठी हुईं, माता-पिता हुए। जो-जो साधन हुए वे वे मिले तो है, ये गतियाँ मिलीं तो गति नामक जो ये स्थितियाँ हैं वे स्थितियाँ नामकर्मके उदयसे हुई हैं, इस कारण वे औदयिक भाव हैं।

कर्मणोस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः।
प्राप्य तत्रोचितान् भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः ॥६७८॥

गतिभावका परिचय—जो ये चार गति नामकर्म बताये गए हैं। इस गतिनामकर्मका विपाक होनेसे यह आत्मा अपने ही उदयवश उन नामकर्मोंमें किसी एकके उदयका निमित्त पाकर नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव—इन चार गतियोंमें से तदनुरूप किसी भी एक गतिको प्राप्त होकर उस गतिके योग्य भाव करता है। कोई आदमी पहिले घोड़ा था तो उसे तो घास अच्छी लगती थी, आदमी बन गया तो उसे हलुवा अच्छा लगने लगा। जब गाय, भैंस था तब तो अपना बछड़ा बछिया इसे प्रिय लगते थे। अब मनुष्य हो गया तो इसे ये दो पैर वाले बच्चा बच्ची प्रिय हो गए। जिस गतिमें जीव जाता है उस ही गतिके योग्य उसके भाव बनते हैं। सूकरको कीचड़ सुहाता है, वही सूकर अगर मनुष्य बन जाय तो उसे कीचड़ नहीं सुहाता। तो वहाँ परिस्थितियाँ अलग हो जाती हैं, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सामग्रीके अनुसार उनका भाव जुदा-जुदा बन जाता है, उसके लिए दृष्टान्त देते हैं।

यथा तिर्यगवस्थायां न तद्व्या भावसन्ततिः।
तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥९७९॥

गतिभावके परिचयमें तिर्यग्गतिके भावोंका उदाहरण—जिस प्रकार तिर्यञ्च अवस्था में जो उस अवस्थाके योग्य भाव है वह उस पर्यायके अनुसार अवश्य होता है। तिर्यञ्च अवस्थाके योग्य जो भाव हैं वे तिर्यञ्चके ही होते हैं। भाव भी उसी रूप होते हैं, क्रिया भी उसीरूप होती है। जब कोई मनुष्य पहिले कुत्ता था तो उसकी पानी पीनेकी क्या विधि थी, क्या वह गिलास कटोरा आदिसे पीता था ? क्या वह कोकाकोला पाइपकी सींकसे पीता था ? अरे वह तो जलमें जीभ डाल देता था, बस जीभ ही छोटासा कटोरा गिलास आदिका जैसा काम करती थी। भला उस तरहसे कभी कोई मनुष्य भी पीता है क्या ? हाँ हमारी बातको झूठ करनेके लिए कोई ऐसा बनाकर करने लगे तो उसकी बात अलग है (हँसी)। तो जो जीव जिस भवमें पहुंचता उस भवके अनुसार, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, सामग्रीके अनुसार वहाँ प्रकृतियाँ हो जाती हैं। यह गति औदयिक भाव है। जैसे तिर्यञ्चमें तिर्यञ्च अवस्थाके योग्य जो भाव संतान चलते हैं वे तिर्यञ्च पर्यायके अनुसार होते हैं।

मायाको मायारूपसे पहिचान लेनेका महान् पौरुष—देखो सारे संकटोंसे छूटनेका जो उपाय है, उसकी पहिचान क्या है ? जो उस उपायको बना लेता है। उसकी मोटी पहिचान यह है कि जितने मनुष्य दिखे, जितने लोग दिखे उनको वह अपरिचित या उनसे मैं अपरिचित हूं इस तरहका निर्णय रखना है, फिर भी जो व्यवहार करना पड़ता, जो अनुराग बनाना पड़ता वह करता है, मगर करना और निर्णय ये दो बातें जुदी-जुदी हैं। विश्वास और चलन ये दो पृथक्-पृथक् बातें हैं, कमजोरी है ऐसी कि विश्वासके अनुसार चल नहीं पाते, मगर कोई कहे कि जब चल नहीं पाते विश्वासके अनुसार तो फिर विश्वास क्यों किया जाय ? देखो

http://www.jainkosh.org

समीचीन विश्वासका इतना महत्त्व है कि उसके अनुसार चलना न बने तो भी सम्यक् विश्वास करनेका लाभ है। आत्मा व परमात्मस्वरूपका विश्वास यदि सत्य हो गया है और उसके अनुसार चाहे चल भी नहीं पा रहे हैं तो भी कर्मनिर्जरा है। तो विश्वाससे मत चिगो। सही विश्वास बने। मेरा पहिचाननहार दूसरा न कोई रे। जगतमें मेरा पहिचानने वाला कोई दूसरा नहीं है। मैं मायने आत्मस्वरूप अंतस्तत्त्व सहजपरमात्मतत्त्व। यहाँ जितना व्यवहार होता है परस्पर, मायामें मायासे हो रहा है। हम आपसे बातें करते हैं तो हम भी माया, आप भी माया। जो हमारेमें यथार्थ स्वरूप है, अंतस्तत्त्व है, सहज परमात्मरूप है, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है और आपमें भी है, इन दोनोंको परस्परमें बात करते हुए किसीने देखा क्या? मायाकी मायासे पहिचान हो रही है। इसमें इतना अन्तर है जरा कि कभी कोई अत्यन्त मुग्ध दशामें रहता है, कभी कोई समझा हुआ रहता है। माया तो न मिटेगी हमारी आपकी, पर विश्वास यदि साथ हो तो कोई समय ऐसा आयगा कि यह माया भी मिट जायगी। लोग तो मायाकी पूजा करते हैं और कहते भी हैं कि इसके घरमें बहुत माया है जिसके पास धन वैभव ज्यादा हो, और यहाँ हम कह रहे कि मायाको नष्ट करना है। अरे यह माया नष्ट होगी, चारों गतियों की अवस्थायें दूर होंगी तो परमात्मपद मिलेगा, अनन्त आनन्द मिलेगा।

विभावोंकी विपरीतता समझ सकनेपर ही परमात्मत्वलाभका मार्ग पानेकी संभवता—भैया! परमात्मत्वलाभके लिये विभावोंकी ही तो एक ओटको छोड़ना है। परमात्मदशाकी बात भी उन मोहियोंकी समझमें न आयगी। जिनको यह जंचता है कि धन-धान्य, स्त्री-पुत्रादिक इनसे बढ़कर दुनियामें है ही क्या, उन्हें परमात्माके आनन्दकी बात कैसे समझमें आयगी? एक भिखारीको जिसको कभी भी अच्छा खाना मिला ही नहीं, पुरानी रोटी मिल जाती है तो उन रोटियोंको रख ले झोलीमें, और उसे कोई समझाये कि देखो हलुवा पूड़ीमें बड़ा मौज है, हम तुझे देंगे हलुवा पूड़ी, तू इन बासी रोटियोंको फेंक दे तो क्या वह फेंक देगा? अरे उसे विश्वास ही न होगा। वह तो यही समझेगा कि यह तो मुझे बहका रहा है। तो जिसको सूखी रोटियोंमें ही मौज है उसकी आगे वृत्ति क्या? जिसने इस सम्पदाके मोहमें ही कृतकृत्यता मान ली, संतोष समझ लिया उसके लिए परमात्माके आनन्दकी बात समझमें न आयगी। फिर कोई पूछेगा तो फिर ऐसे लोग भी तो बहुत हैं। वे दर्शन करने क्यों जाते भगवान्के? तो उनका प्रयोजन बस भीतरमें यही बसा है कि पुत्रादिक खुश रहें, धन बढ़े, बस यही भावना रहती है। और शायद ऐसी पूजा लोग करते हों तो करें, मगर उन्हें वास्तविक लाभ न मिल पायगा। तो परमात्मस्वरूपका आनन्द उन्हें ही अन्दाजमें आयगा जिनको यह जंच गया कि संसारमें कहीं सुख नहीं। यह सब व्यर्थ है, मायारूप है उसकी उपासना धर्म है और जिसको दर्शन न हो उसको कैसे-कैसे औदयिक भावोंमें रहना पड़ता है? ये ही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बातें इस प्रकरणमें आयेंगी।

एवं देवेऽथं मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम्।
आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥९८०॥

औदयिक भावोंका बेकार भार—औदयिक भावोंका परिचय कराया जा रहा है। औदयिक भावोंके भेदोंमें सर्वप्रथम भेद बताया है—४ गति। गतिनामकर्मके उदयसे जीव जिस गतिमें जाता है उस गतिके योग्य भाव बनते हैं। जैसे उदाहरणमें कल तिर्यञ्चकी बात कही थी। तिर्यञ्चगतिमें पहुंचनेपर जीव तिर्यञ्चों जैसा भाव बनाया करता है। जैसे मनुष्योंके और पशुओंके आहार आदिकमें अन्तर है। अब इस छन्दमें शेष तीन गतियोंका जिक्र कर रहे हैं। देवगतिमें भी अपनी गतिके योग्य भाव होते हैं। देवोंका वैक्रियक शरीर है, वे उस वैक्रियासे कैसे-कैसे भाव किया करते हैं, उनके लिए क्या-क्या बातें आसान हैं और उसके अनुकूल उनके भाव बनते हैं। मनुष्यगतिमें मनुष्यके अनुकूल भाव बनते हैं। भले ही मनुष्योंमें परस्पर भेद हो, पर इतना भेद तो न होगा कि मनुष्योंकी आदत पशुओं अथवा घोड़ों जैसा आहार-विहारकी बन जाय। तो मनुष्योंमें मनुष्यों योग्य व्यवहार होता है। नारकी भवमें नारकियों जैसी वृत्ति होती है। वहाँ कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं। उनका शरीर अशुभ होता है, उनका परिणाम अशुभ रहा करता है। सम्यग्दृष्टि नारकी हो तो उसने कितना बड़ा लाभ लूट लिया? सम्यक्त्व मिल गया, मोक्षमार्ग उसे मिल गया। मुक्तिमें क्या आनन्द है? उस आनन्दका भी अनुभव कर लो। इतना महान् होकर भी चूँकि नारकी है तो वहाँ मार-काट, छेद-भेद तो उस नरकगति जैसा ही रहता है। उस भवकी बात छूटी नहीं है। कोई सम्यग्दृष्टि नारकीपर उत्पात करे तो वह भी बदलेमें छेदन-भेदन तो वैसा ही कर रहा, कहीं वह साधु-संतोंकी भाँति बैठकर कुटता-पिटता, छिदता-भिदता रहे, ऐसा नहीं है। उसके भी विक्रिया है इसलिए वह भी उसी तरह मार-काट करता है। भले ही अन्तः भावोंके कारण अन्तर हो जाय, लेकिन गतिके अनुसार भावोंसे वह कहाँ छूट पायगा? और सम्यक्त्वकी महिमा देखो—कुट-पिटकर भी और दूसरोंको कूट-पीटकर भी उसे अनाकुलताका भान है। तत्त्व क्या है, स्वरूप क्या है और वास्तविक आनन्द क्या है? लोकमें वही वैभववान है जिसको सम्यक्त्व प्राप्त है, बाकी सब बेकार है।

सम्यक्त्व बिना धर्मरूपताका अभाव—सम्यक्त्वकी बात समझाने वाले आपसमें एक दूसरेके नहीं हैं इसलिए सब चल रहा है। यदि सम्यक्त्वकी बात एकदम सामने आ जाय किसीके तो वहाँ एकदम घोषणा की जा सकती है कि ऐसे धर्मक्रियाकाण्डसे लाभ क्या है? सम्यक्त्व बिना धर्मका लाभ कैसे लिया जा सकता है? अष्टाह्निकाके दिनोंमें अरहदास सेठके घरपर रात्रिमें आपसमें धर्मचर्चा हो रही थी तो उन दिनों राजाका ऐसा कुछ ऐसा विचार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हुआ कि मैं रातको नगरमें घूमकर देखूँ तो सही कि कहाँ क्या हो रहा है, सो मंत्रीके साथ रातको राजा घूमने निकला। जब अरहदास सेठके मकानके पास आये तो वहाँ धर्मचर्चा सुनाई पड़ी। राजा उस चर्चाको बड़े ध्यानसे सुनने लगा। चर्चा यह हो रही थी कि हमें सम्यक्त्व कैसे हुआ? अरहदास भी यही बात कह रहा था और उसकी सभी सेठानियाँ भी यही बात कहती थीं कि हमको सम्यक्त्व कैसे हुआ? सभी लोग सिर हिला-हिलाकर सभी बातोंकी अनुमोदना कर रहे थे, पर छोटी सेठानी यही कहती थी यह सब झूठ। राजा सभीकी बातें सुन रहा था। सोचा कि देखो ये सभी लोग तो ठीक हो कह रहे, यह तो हम लोगोंकी जानी समझी बात है, पर यह छोटी सेठानी कहती है कि सब झूठ। सोचा कि कल इसका न्याय करेंगे। दूसरे दिन राजाने छोटी सेठानीको राजदरबारमें आदरसे बुलवाया और पूछा कि रात को जो तुम्हारे घर धर्मचर्चा हो रही थी उसमें सभी लोग तो ठीक ही कह रहे थे, पर तुम क्यों कहती थीं कि सब झूठ। तो उसने उत्तर तो कुछ न दिया, सारे आभूषण उतार दिए और एक धोती मात्र पहिनकर किसी अर्जिकाके पास दीक्षा लेने चल पड़ी और उस समय जनता कह रही थी कि बस सच तो यह है। तो ऐसे ही समझिये कि धर्मके मामलेमें जितना स्वभावाश्रय है उतना तो धर्म है, बाकी धर्म नहीं जो कुछ श्रम किया जा रहा है।

भयावह चीजोंका संग छोड़कर अभय धाममें पहुंचनेका अनुरोध—दसलक्षणके दिनों में बड़े सुबह उठेंगे, नहायेंगे, धोयेंगे, पूजाविधान आदिकमें बहुत-बहुत समय लगायेंगे, मगर अपने आत्मशोधनमें, मोहका भय करनेमें या ज्ञानकी बात सुननेमें बुखार चढ़ आयगा, न रुचेगा। अरे कहाँका ज्ञान? बड़ा कष्ट हो रहा, समझमें नहीं आ रहा, समझमें आये कैसे? जब विषयोंकी ओर चित्त है, कषायोंकी ओर रुचि है, मोह मोहमें ही चित्त पगा है तो ज्ञान और वैराग्यकी बात रुचेगी कैसे? अगर कोई हँसी-ठट्ठा वाली बात कहे तो वह झट समझमें आयगी, मगर ज्ञान और वैराग्यकी बात जिसके बलसे ससारके संकट सदाके लिए दूर हो सकते हैं उस बातको जी न चाहेगा। भला घरमें भी किसी बड़े कामकी अभिलाषासे जिससे चित्तमें परेशानी हो, ऐसे कठिन काम भी कर डालते हैं। हमारे सिरपर आ ही गयी यह बात। क्या-क्या कष्ट नहीं करते, पर यह नहीं सोचते कि अनादिकालसे दुर्गतियोंमें भ्रमण करते-करते आज मनुष्यभव पाया है तो सोचें कि बस मुझे करनी ही है ज्ञान वैराग्यकी बात। समय आया है, यह टल जायगा, फिर पता नहीं मरकर क्या होंगे? कैसा भव बीतेगा, क्या परम्परा बन जायगी? भला जब एक ही जीवनमें कोई असत्संग हो जाय, खोटे लोगोंका संग हो जाय तो यहाँ ही विश्वास नहीं रहता कि अब मेरा क्या होगा? खोटा ही परिणाम है उसका। तो भला सारे भव असत्संग रखा। मोहियोंका, कषाय वालोंका, दुष्ट अभिप्राय वालों का, अज्ञानियोंका अगर संग रखा तो इसका परिणाम क्या रहेगा? एक मनुष्यभव ही तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मिला, अपनी जिम्मेदारी सम्हालनेके लिए। ज्ञान वैराग्यसे मत डरो। आचार्योंकी यह स्पष्ट घोषणा है कि ये मूर्ख लोग जिस चीजसे डरते हैं वही चीज तो इनके निर्भयताकी है। और जिसमें प्रीति करते हैं, डरते नहीं हैं, वह महान भयकी चीज है। विषयोंमें, कषायोंमें, प्रेममें, विरोधमें, गप्प-सप्पमें डर नहीं लगता, प्रेम जगता। पर भयकी वही चीज है, आपत्तियोंका वही स्थान है और जिसमें, ज्ञानमें, वैराग्यमें, सत्संगमें, गुरुकी उपासनामें, जिन बातोंमें इस जीवको तत्त्व मिलेगा, संकट टलेंगे, उससे यह डरता है। तो जब संसार और मोक्ष बिल्कुल उल्टी चीजें हैं—संसारमार्ग और मुक्तिमार्ग वे परस्पर उल्टी चीज हैं तो मनुष्योंमें मोही और ज्ञानी इनकी बात भी तो परस्पर उल्टी होनी चाहिए, सो उल्टी चल रही है।

औदयिक भावोंमें प्रेम न करके अपने सहजभावमें रुचि करनेका संदेश—भैया! अपनेको देखो, अपनेमें अपनेको सम्हालो, कुछ रहेगा नहीं साथ, किसीका पता न पड़ेगा। अपने आपके अन्तःस्वरूपका, सहज परमात्मतत्त्वका परिचय हो जायगा तो यह साथ रहेगा और आनंदामृतका पान कराता रहेगा। उसे निरखो। इन औदयिक भावोंमें प्रीति मत करो। ये मांगे हुए भाव हैं, किसीकी कोई चीज माँगकर ले आये, मानो गहना ले आये तो उस मांगे हुए गहनेमें उसे मोह तो नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि यह माँगकर लाये हैं, यह मेरी चीज नहीं है, यह तो देनी ही पड़ेगी। यह मेरे साथ रहनेकी नहीं। तो ऐसे ही समझो कि जो क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रिय विषयोंका प्रेम है वह भी माँगा हुआ है। कर्मोंके उदयसे माँग रखा है, ये रहनेके नहीं, ये भी छूटेंगे। तो औदयिक भावोंसे प्रीति मत करो। एक अपना जो सहज शुद्ध पारिणामिक भाव है उसकी रुचि जगावो। होते हैं नाना प्रकारके भाव, किन्तु वे भाव इस जीवकी निजकी चीज नहीं हैं। जिस पर्यायमें भी यह जीव जाता है उसी पर्यायके योग्य उसको सामग्री मिल जाती है। सामग्री तो सब जगह है, बस अपनी पर्यायके योग्य उस सामग्रीका उपयोग करने लगता है। बस यही है गतिभावका रहस्य।

ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम्।
तत्कथं जीवभास्य हेतुः स्याद्घातिकर्मवत् ॥९८१॥

गतिनामकर्मोदयमें घातिकर्मवत् भावहेतुतामें शंकाका कथन—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि यदि नामकर्मके उदयसे गतिभाव हुआ तो ठीक है। मगर यह हुआ तो गतिनामकर्मके उदयमें। तो भला बतलाओ—नामकर्म घातियाकर्म है या अघातिया? अघातिया कर्म है। देखो मन मौजसे रहकर धर्म करनेकी आदतमें जरा फर्क डालो। यदि आपको इतना भी न मालूम हो कि भगवानका क्या स्वरूप है, घातियाकर्म क्या है, अघातिया कर्म क्या है, गुणस्थान कैसे होता है, ऐसी साधारण बातें भी न मालूम हों जैनसिद्धान्तकी तो वे हमें समझायें।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हम नहीं जानते कि उन्हें धर्म करनेकी प्रेरणा दे कौन रहा है ? जो इतने श्रम किए जाते हैं धर्म काम करनेके लिए, उसके लिए प्रेरणा दे कौन रहा हैं सो तो बताओ ? हमको तो इतना मालूम है कि आत्माके सहजस्वभावकी प्रीति है वह धर्म करनेके लिए प्रेरणा देता है। इससे ज्यादा कुछ आप लोगोंको मालूम हो तो बता दो कि इतना तो धर्मके लिए कष्ट किया जा रहा है। धन भी लगाते, मन भी लगाते, शरीर भी लगाते और बहुत गा-गाकर पूजा करते, पर यह तो समझा दो कि आपको प्रेरणा किसने दी कि आप इतने काम करें, इतने कष्ट करें ? यदि आपको स्वभावरुचिने प्रेरणा दी हो तो सब काम ठीक बनता चला जायगा। स्वभावरुचि नहीं है, फिर भी कर रहे हैं तो हम उसकी क्या बतायें ? हम खुद असमंजसमें हैं। क्यों हो रहा इतना कष्ट ? जब तक अपने आपके अंतस्तत्त्वकी सुध न हो, परमात्मस्वरूपकी खबर न हो तब तक धर्मभाव कैसे हो सकता है ? तो प्रसंग यहाँ यह चल रहा था कि बताया यह जा रहा कि गतिनामकर्मके उदयसे गतिभाव होता है और उस भावमें यह कला है कि जो जीव जिस गतिमें पहुंचता है उसके उस गतिके अनुकूल भाव होने लगता है। शंकाकारको यहाँ यह शंका हो गयी है कि जीवमें भावोंका बनना तो अघातिया कर्मोंके आधीन नहीं है। अघातिया कर्म तो शरीरको रच दे, शरीरमें जीवको बनाये रखे, ऊँच-नीच कुल मिले, ऐसी बातोंमें तो उसकी कला हुई, लेकिन जीवके भाव बन रहे उस तरहके तो ऐसे भाव बननेमें अघातियाका क्या काम ? स्वरूप ही बतलाता है कि घातिया कर्म उन्हें कहते हैं जो जीवके गुणका घात करें। तो ये जो भाव बन रहे हैं आहार-विहारके आरामके तो यह तो घातिया कर्मोंसे सम्बंधित बात होना चाहिए। अघातिया नामकर्मके उदयसे, गति नामकर्म के विपाकमें इस भावका क्या सम्बंध ? इन नामकर्मकी प्रकृतियोंमें भावकी सामर्थ्य कहाँ आ गई ? देखो भैया ! शंका करनेके लिए भी बुद्धिकी बड़ी जरूरत होती है। कैसी मर्मभरी शंका की है घातिया और अघातियाका काम जब जुदा है। अघातियाका काम भावरचना नहीं, भावपरिवर्तन नहीं, फिर यह गतिभाव कैसे बन गया ? इसके समाधानमें ग्रन्थकार कहते हैं—

सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत्।
नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥६८२॥
अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयोऽञ्जसा।
तस्मादौदयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥६८३॥

मोहके नैरन्तर्योदयसे देहाकारानुरूप भाव बननेका प्रतिपादन करते हुए उक्त शंका का समाधान—समाधानमें कह रहे हैं कि नामकर्मका काम तो यद्यपि यह है कि रचना किया करे शरीरकी, जैसे चित्रकार नाना प्रकारकी चित्रकारी बना देता है, इसी तरह नामकर्म का उदय इन नाना प्रकारकी शरीर रचनाओंका कारण है। सो नामकर्मने किसी तो रचना,

http://sahjanandvarnishastra.org/

मगर साथ ही लगा हुआ है मोहनीय कर्म। उसका उदय निरन्तर चल रहा है, तब उस देहक्रियाके आकार अनुरूप औदयिक भाव बनता है। अब भला बतलाओ गायसे कहो कि देख तेरे पास भी चार चीजें हैं—दो हाथ, दो पैर। आगेके पैरोंको हाथ मान लो और मनुष्योंके भी दो हाथ, दो पैर हैं। तो रे गाय तू मनुष्यों जैसा पद्मासनसे बैठ तो जा। तो क्या वह उस तरहसे बैठ सकेगी ? नहीं बैठ सकती। करे क्या ? जब देहरचना ही वैसी है कि जब वह बैठेगी तो ऐसे ही बैठेगी कि पहिले उसका पेट और बगल लग बैठे। वह और कला लायगी कहाँसे ? तो बैठने का भाव भी उसी प्रकारका बनेगा। तो नामकर्मके उदयमें शरीर का आकार बन गया। अब जैसा शरीरका आकार बन गया उस तरहका वह भाव बना। तो जैसे और समझलो—कोई मनुष्यजन्मसे ही पैरका लंगड़ा हो गया, खचुर-खचुरकर चलता है। तो जब उसके चलनेका भाव होगा तो इसी तरह चलनेका भाव बनाकर चलेगा। तो देह का जैसा आकार बना हो उसके अनुरूप चलनेकी बात होती है। यद्यपि भाव बना मोहनीय के सम्बंधसे, मगर उसके अनुरूप भाव बने यह बात पायी जा रही है। जो नामकर्मके उदयसे शरीरका आकार मिला उसकी क्रियाके अनुसार औदयिक भाव होता है। नामकर्मका काम एक शरीररचनामात्र है सो ठीक है। शंकाकारका कहना सच है कि नामकर्मके भावके परिवर्तनका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह अघातिया कर्म है, लेकिन साथ जो मोहनीय कर्म का उदय चल रहा है। उसमें औदयिक भाव अपनी क्रिया करता है और आगे देख लो जहाँ मोहनीय कर्म नहीं रहता वहाँ तो यह भाव भी नहीं रहता। तो मोहनीय कर्मका अविनाभाव है इसलिए नामकर्मोंका यह काम बताया गया है।

मोहनीय कर्मकी प्रधानता व जीवके बिगाड़में कारणता—देखो कितनी विडम्बना है, संसारमें नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, नाना गतियोंमें जन्म लेना होता है। नाना भाव इसे बनाने पड़ते हैं। अनेक सुख दुःख सहने पड़ते हैं। कितना कर्मबन्ध हो रहा है ? इस सबकी मूल जड़ है मोहनीय कर्म राजा अथवा सेनापति समझ लीजिए। राजाके मरनेके बाद सेना कहाँ टिकेगी ? यों समझ लीजिए कि वृक्षकी जड़ है जैसे मोहनीय कर्म और वृक्ष की डालें पत्ते फूलकी तरह बाकीके कर्म, बाकीके कर्म हरे भरे रहें इसके लिए मोहनीय कर्मकी प्रसन्नता चाहिए। नहीं तो उन ७ कर्मोंपर भी आफत आ जायगी और वे सब मर जायेंगे। उन ७ कर्मोंके रक्षक, पालन-पोषण करने वाला मोहनीयकर्म है। जैसे कोई घरमें कहे कि हमारा पालन-पोषण करने वाला तो हमारा पिता है, जो कोई भी हो और कहे कि वाह कैसे ? हम आज पिताकी कोई परवाह न करेंगे, कोई तकलीफ ही न होगी। अरे तो आज तकलीफ न होगी तुम्हें ? कलका दिन कैसे निभा लोगे ? माताने रोटी बनाकर खिला दी, पेट भर गया, अब यह ऐंठ बगराता है—मेरा किसीसे क्या मतलब ? लेकिन कलका दिन कैसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

गुजारेगा ? जब कल आयगी तब पहुंचकर बोलेगा कि अम्मा भूख लगी। कहाँ तक वह आधारके बिना रहेगा ? ऐसे ही समझ लीजिए कि मोहनीय कर्मका नाश होने पर ७ कर्म रहते तो हैं। आपको मालूम होगा कि १० वें गुणस्थानके अन्तमें मोहनीयकर्म पूरा नष्ट हो जाता है। सम्यक्त्वके होते समय मोहनीयकी ७ प्रकृतियाँ दूर हो गई। रह गयीं २१ प्रकृतियाँ, सो २१ में २० का नाश हुआ ९वें गुणस्थानमें, रह गया सूक्ष्म लोभ, उसका नाश होता है १० वे गुणस्थानके अन्तमें। १२वें गुणस्थानमें पहुंच गया। मोह जरा भी नहीं है तो वे ७ कर्म डींग मारें कि कौन कहता है कि हम मोहनीय कर्मके बलपर पलते पुसते हैं। देखो अब भी हैं हम और मोह नहीं रहा तो यह डींग कहाँ तक रहेगी ? शेषमें ३ कर्मोंको तो १२ वें गुणस्थानमें ही नष्ट हो जाना पड़ता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये १२ वें गुणस्थानके अन्तमें खतम हो जाते हैं। रह गए चार अघातिया कर्म सयोगकेवली गुणस्थानमें। अयोगकेवलीमें तो वे चार अघातिया कर्म कब तक टिकेंगे ? थोड़े समय बाद मुक्ति होगी, वे अघातिया कर्म भी नष्ट हो जायेंगे, पर जब तक मोहनीय कर्म राजी रहा, तब तक इन ७ कर्मोंपर कोई आँच नहीं ला सका, कोई पुरुष टेढ़ी नजरसे नहीं देख सका। मोहनीय कर्मके रहते हुए ७ कर्मोंमें कोई बाधा पहुंचाने वाला नहीं है। तो यह भी समझ लीजिए कि जितना भी बिगाड़ है वह सब मोहनीय कर्मसे चलता है। तो इस नामकर्मके साथ जो मोहनीय कर्मका उदय भी चल रहा है उससे ये भाव बन रहे हैं, यह यहाँ समाधानमें कहा जा रहा है।

ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोस्त्येकधारया।
तत्तद्वपुः क्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ॥६८४॥

मोहनीय कर्मराजाकी एकधारासे विपाक देनेकी स्वाधीनता होनेपर देहक्रियानुरूप भाव करनेकी विवशताके कारणके बारेमें शंका—शंकाकारका समाधान सुन लिया था, क्या कि गति नामकर्मके उदयके साथ मोहनीय कर्मका भी उदय चल रहा है, इसलिए ये भाव बन रहे हैं और उन भावोंमें सहयोगी बन रहा है नामकर्मका काम। यह समाधान पानेके बाद शंकाकार यह कह रहा है कि मोहनीय कर्मका उदय तो अनर्गल हुआ करता है। वह तो राजा है। उसको दूसरेके सहयोगकी क्या जरूरत है ? मोहनीय कर्मका उदय आये, उसे अपने आपके बलसे अपने अधिकारसे स्वाधीन होकर फल देना चाहिए। उसको यह अपेक्षा क्यों रहती है कि शरीर मिला, देह मिला, उनके अनुकूल हम इसे फल दें, वैसा भाव बनायें, ऐसी अपेक्षा क्यों लगा करती है ? क्या कह रहा शंकाकार कि मोहनीय कर्म तो प्रबल है, स्वतंत्र होना चाहिए, वह काम करनेमें किसीका मुंह क्यों ताक रहा ? जैसा शरीर मिला उसके अनुकूल भाव बनें, ऐसी क्यों पराधीनता है ? भिन्न-भिन्न शरीरोंके अनुसार मोहनीय कर्म फल क्यों

http://sahjanandvarnishastra.org/

दिया करता है ? उसे तो अपनी मर्जीसे जैसा अनुभाग है, जैसा उसका उदय है उसके अनुसार इस जीवको तुरन्त मथ डालना चाहिए। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं—

नैवं यतोनभिज्ञोसि मोहस्योदयवैभवे।
तत्रापि बुद्धिपूर्वे चाऽबुद्धिपूर्वे स्वलक्षणात् ॥९८५॥

उक्त शंकाका समाधान देनेके लिये मोहनीय कर्मकी फलदानकी रीति नीतिके कथन की सूचना—उक्त शंकाका बहुत छोटा संक्षेपमें समाधान है। शंकाकार यह जानना चाहता था मोहनीय कर्म तो स्वायत्त है, उसकी तो निरर्गल वृत्ति है, उसको फल देनेमें शरीर आदिककी अपेक्षा क्यों करनी चाहिए ? समाधानमें कह रहे हैं कि देखो शंकाकार, तुम मोहके उदयके विभावमें जानकारी अधिक नहीं रखते। जब तुम मोहनीयके उदयका विभाव जानोगे और उसकी रीतियाँ-नीतियाँ जानोगे तो इस शंकाका समाधान स्वयं हो जायगा। घरमें यदि किसी को गुस्सा करनेकी अधिक आदत है तो नौकर-चाकर बड़े समझदार होते हैं। कोई नौकर उस समय उसके सामने जाय या उसका उत्तर दे या उससे कुछ कहे तो समझदार नौकर कहता है—अरे तुमको इस मालिककी आदतका अनुभव नहीं है, इसकी प्रकृतिका तुम्हें परिचय नहीं है। कैसा इसका वैभव है, कैसा ठाठ है, कैसा इसका प्रताप है ? इस समय क्या कर सकते हैं इसको तुम नहीं जानते। तो ऐसे ही मोहनीय कर्मके उदयका वैभव नहीं जानते हो शंकाकार। वह सब जब बताया जायगा तब स्वयं परिचय पा लोगे कि मोहनीय कर्म है तो निरर्गल, मगर उसकी रीति-नीति क्या है ? किस तरहसे वह फल देती है—इस बातको समझनेकी आवश्यकता है। प्रसंग यह चल रहा है कि मोहनीय कर्म तो अपनी एक बड़ी शक्ति रख रहा है, निरर्गल है, वह स्वच्छन्दतासे क्यों न चले ? क्यों नहीं स्वयं अपना प्रभाव जमा पाता ? उसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य देवके देहका मुख क्यों ताकना पड़ता है ? उसके समाधानमें सामान्य रूपसे यह बताया था कि देखो—मोहनीय कर्मकी नीति-रीति समझो, तब यह समाधान अपने आप हो जायगा कि मोहनीय कर्म किस तरह जीवको बिगाड़ता है ? तो उस ही मोहनीय कर्म के विवरणमें कुछ श्लोक आयेंगे।

मोहनान्मोहकर्मैकं तद्द्विधा वस्तुतः पृथक्।
दृङ्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥९८६॥

मोहनीय विपाकमें जीवके मोहनका दिग्दर्शन—यहाँ चर्चा चल रही है अपने आपको बरबाद करनेके निमित्तभूत मोहकर्मकी। देखो—आपको क्या चाहिए ? सुख शान्ति या दुःख। सब यह उत्तर देंगे कि हमें तो सुख शान्ति चाहिए। तो जरा ढंगसे ठिकानेपर अपना चित्त ले आये। जैसे सुख शान्ति मिलती हो उस तरहसे अपनेको ढालो। अपनी-अपनी परम्परासे आयी हुई बुद्धिके अनुसार तो सभी अपनेको चतुर समझते हैं। जो मैं कर रहा हूं, ठीक कर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

रहा हूं । अरे ठीक कहाँ कर रहे हो ? अगर तुम दुःखी हो, भीतरमें आकुलित हो तो सीधा निर्णय है कि तुम ठीक नहीं कर रहे हो । लेकिन मोहका एक ऐसा नशा होता है कि दुःखी भी होते जाते हैं और मानते हैं यह कि मैं तो बहुत चतुर हूं, बड़े मौजमें हूं । ऐसा ही इसे अपनी पर्यायका रूप दिखाई देता है । सुख शान्ति चाहते हो तो दोनों बातोंका निर्णय कर लो, दुःखका कारण क्या है और शान्तिका आधार क्या है ? जगतमें कोई भी जीव किसीका जिम्मेदार नहीं है । बालक पैदा होते, छोटी उम्रमें गुजर जाते, उनको किसने सहाय दिया ? कौन मददगार है ? बड़े भी तब दुःखी होते, जो मनमें भाव आया, अपनी स्वच्छन्दता, विषयों की वृत्तिका भाव जगा, दुःखी हो गए, उनके लिए कौन मददगार है ? इस जीवका इस जगत में कोई मददगार नहीं है, लेकिन यह जीव स्वयं अपने आपका मददगार हो सकता है । ज्ञान-प्रकाशमें अपनेको लगाओ, बस स्वयंका मददगार है । अब हम ज्ञानप्रकाशमें कैसे आ सकें ? जैसे कोई किसीको पकड़कर खोटी जगह रखे हो तो वह विवशता अनुभव करता है कि मैं कैसे अच्छी जगहमें पहुंचूं ? चाहता तो वह भी है कि मैं अच्छे स्थानपर रहूं, आराममें रहूं, मगर विवश है । किसीने जकड़ रखा है । यों ही समझिये कि आत्माके आनन्दका धाम तो यही स्वयं आत्माराम है, ज्ञानप्रकाश है । उस ज्ञानप्रकाशमें कैसे पहुंचें ? क्यों भाई मोहने जकड़ रखा है ? अरे विवशताका अनुभव मत करो । वैसे तो उस आदमीको किसी दूसरेने जकड़ रखा है, लेकिन यहाँ उसके आत्माको किसी दूसरेने पकड़ नहीं रखा । वह ही कल्पनायें बनाकर मोहकी रचना कर कर अपने आपको अपने जालमें स्वयं फंसाये रहता है । जैसे मकड़ी जाल बिछाकर स्वयं उस जालके अन्दर फंसी रहती है इसी तरह यह जीव स्वयं कल्पनायें बनाकर कल्पना-जालके अन्दर फंसा रहता है । कैसे हम परेशान हैं, जरा इसकी चर्चा सुनो—तुम किसी तरह पराधीन हो गए, क्या कारण रहा ? वह कारण है मोहनीय कर्मका उदय । जब यह जीव भ्रम करता है, कषायें करता है तो इस जीवके कर्मका बन्धन होता है । ८ प्रकारके कर्म बँधते हैं ।

सकर्मता व निष्कर्मताकी स्थिति समझ लेनेका अनुरोध—भैया ! कर्मोंकी ८ संख्या तो सामान्यतया सबने सुन रखी होगी, किन्तु कर्म क्या चीज है, उनमें कैसा प्रभाव है, कैसी रचना है और कर्मका क्षय होनेपर आत्माकी क्या निधि प्रकट होती है ? इसका परिचय इने-गिनोंको ही होगा, किन्तु जरा गम्भीरतासे सोचो । जैसे हम समझते हैं कि यह ज्ञानी है, विद्वान् है, क्या उन जैसी योग्यता हम सबमें नहीं है ? सबके वह क्षयोपशम पड़ा हुआ है, पर कुबुद्धि ऐसी छायी हुई है कि उस ज्ञानप्रकाशके लिए जी नहीं चाहता । योग्यता सबमें है । आत्माके अन्तःप्रकाशमान ब्रह्मस्वरूपको देख लें, समझ लें, अनुभव कर लें, ऐसी योग्यता सबमें है । उसका प्रमाण क्या ? मनुष्य हुए, मन मिला यही प्रमाण है, और प्रमाण देखो तो

http://sahjanandvarnishastra.org/

जो अपना व्यापार, दूकान, हिसाब बड़ी-बड़ी बातोंमें इतनी चतुराई रखते हुये करते वे अपने आपके ऐसे सुगम साधारण स्वाधीन, जिसमें प्रयासकी आवश्यकता नहीं, उसे न समझ सकेंगे, पर पहिले हिम्मत हार ली, जिसे कहते हैं कंधा डाल दिया तो जिसका मनोबल न हो, साहस न हो, रुचि न हो तो वह कैसे मार्गमें लग सकता है ? संसारके दुःखोंसे कितने संतप्त हो, पद-पदपर दुःख आता रहता है, बच्चोंसे कोई प्रतिकूल बात बोल दे, कोई बालक अनुकूल न चले, अपनी कषाय इच्छाके अनुसार दूसरेकी परिणति न हुई, लो क्रोधमें आ गए, दुःखी हो रहे और उस क्रोधमें, दुःखमें अपने आत्माके गुण नष्ट हो रहे। इतनी बड़ी विपत्ति तो पसंद करते हो, मगर ये सारी विपत्तियाँ एक क्षणमें एक साथ ध्वस्त हो जायें, ये सारे संकट मिट जायें, ऐसे इस ज्ञानामृतके लिए रुचि नहीं जगती। तो यह ही निष्कर्ष निकला कि मनुष्य होना न होना बराबर है। मनुष्य होकर काम तो यही किया जानेका था कि संसारके संकटों से सदाको छुटकारा पानेका उपाय बना लिया जाता, पर कर रहे उल्टा काम, व्यर्थका काम। जो आगे मदद भी न करेगा और जीवनके ये दिन व्यर्थ गुजर जायेंगे, ऐसी बात बनेगी। तो थोड़ा रुचि करो, चित्त लगाओ, मोहसे चित्त हटावो। मोहसे कुछ न मिलेगा, अपना ऐसा निर्णय बनाओ। सब बात समझमें आयगी, क्यों न समझमें आयगी ? बाहरकी बात जानना कठिन है, पर अन्दरकी बात जानना कठिन नहीं है। जो जड़ पदार्थ हैं, अपनेसे भिन्न हैं, बाहर पड़े हुए हैं, जिनसे मेरा सम्बंध नहीं उनका जानना कठिन है, और जो खुद ज्ञानमय है, ज्ञानस्वरूपसे लबालब भरा हुआ है ऐसे ज्ञानस्वरूपको जान लेना कुछ भी कठिन नहीं है, अत्यन्त सरल है, और मोहियोंको यों बात जंच रही कि अपनी बात जानना कठिन है और दुनियाकी बात जानना सरल है। जैसे होते हैं कुछ कैदी ऐसे कि जिनको कैद ज्यादा पसंद है, और वे जब आपसमें बात करते हैं तो कितनी बार कैदमें पहुंचे, उसकी डींग मारते हैं। तो ऐसे ही ये संसारी जीव मोहमें ये अपनी चतुराई प्रकट करते हैं, पर हो क्या रहा है ? मोह-कर्मके उदयमें यह जीव अत्यन्त परेशान होता है। न घर रहता है, न प्रसंग रहना है, न वैभव रहना है, न देह रहना है, सब कुछ छूट जाना है, मगर जो अध्रुव चीज है, भिन्न चीज है, मतलबकी चीज नहीं, उन चीजोंमें तुम्हारे मोह प्रेम बसा हो तो इस पापका फल कौन भोगेगा ? इन सब परेशानियोंका कारण है मोहकर्म।

मोहनीय कर्मकी मोहनदृष्टिसे एकरूपता कार्यप्रकारदृष्टिसे द्विविधता—इस मोहकर्मका विवेचन चल रहा कि मोह तो एक प्रकारका है। मोहन कर देना, बेहोश कर देना, अब जैसे तम्बाकू खाये-पिये तो उसका नशा और तरहका है और गाँजा वगैराका नशा और तरहका है, मदिरा पिये तो उसका और तरहका। तो भले ही उनमें भेद हो जाय, मगर दशाकी दृष्टिसे देखो तो नशा तो सब है ही। तो जितने प्रकारके ये मोहन हैं, प्रेम पैदा होना, भ्रम पैदा होना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

आदि मोहन पैदा करने वाला है, बेहोश करने वाला है। तो बेहोश करनेकी दृष्टिसे मोहनीय कर्म एक प्रकारका है। इस मोहका परिवार, इस मोहका प्रभाव मेरेमें रंचमात्र मत हो। मेरे को तो अन्तःप्रकाशमान इस चिदानन्दघन अन्तस्तत्त्वके दर्शन हों। जैसे बीहड़ जंगलमें छिपी हुई कोई संकरी गली है जिस गलीको यह पा ले तो जंगलसे निकल भागेगा, ऐसे ही विभावोंके बीहड़ जंगलमें कोई समीचीन एक संकरी गली है, जिसका सहारा ले कोई तो वह इस जंगलसे पार हो जावेगा और जब तक गली नहीं मिली तो कुछ तो मूर्ख ऐसे होते हैं कि उन्हें परवाह ही नहीं कुछ, जो जंगलमें ही बने रहेंगे और कुछ ऐसे मूढ़ हैं कि जो गलीका ख्याल तो करेंगे कि लोकमें मिलना चाहिए कोई ऐसा रास्ता कि जिससे पार हो जायें और उसके लिए प्रयत्न भी करते, पर उन्हें वह गली नहीं मिल पाती, पर ज्ञानी पुरुष ऐसे हैं कि जिनको रास्ता सही ठीक मिल रहा। अब उसे बहकाने वाला, भुलाने वाला कोई नहीं मिल सकता। भला आपने अपना घर अब तक खूब देखा, रोज-रोज खूब जान लिया घरको, तो आप घरको तो नहीं भूल रहे। जान लिया सो जान लिया, भूलनेका क्या काम ? सोचते हो ना ऐसा, तो ऐसे ही अपने अंतस्तत्त्वकी बात देखो—जान लिया सो जान लिया। अब उसके भूलनेका क्या काम ? तो इस गलीको न देखने दे, मोहित कर दे, बेहोश कर दे, इसका नाम है मोहनीय कर्म। तो इस मोहनीय कर्मका सामान्य रूप तो एक है, फिर भी इसके कुछ भेदकी निगरानी करें तो यह दो भेदोंमें विभक्त है—(१) दर्शनमोह और (१) चारित्रमोह। दर्शनमोहका काम है सम्य-क्त्वको प्रकट न होने देना, बिगाड़ देना, विपरीत कर देना। चारित्रमोहका काम है चारित्रको विपरीत कर देना। मोहनीय कर्मकी २८ प्रकृतियाँ होती हैं। जिनमे तीन प्रकृतियाँ तो दर्शन-मोहकी हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सम्यग्मिथ्यात्व, (३) सम्यक्प्रकृति। मिथ्यात्वके उदयमें यह जीव स्पष्टरूपसे मिथ्यादृष्टि है। उसमें कुछ गुंजाइश ही नहीं है। सम्यग्मिथ्यात्वके उदयमें जीव तीसरे गुणस्थानमें होता है। जहाँ परिणाम मिश्र जैसा, कुछ सम्यक्त्व, कुछ मिथ्यात्व जात्यंतर और सम्यक्प्रकृतिका उदय होता है क्षायोपशमिक सम्यक्त्वके साथ। सम्यक्प्रकृतिके उदयमें यह सामर्थ्य नहीं कि सम्यक्त्वको मिटा दे, लेकिन सम्यक्त्व भी रहे और थोड़ेसे कुछ दोष भी आते रहें, बस यह काम है सम्यक्प्रकृतिका। ये तीन हैं दर्शनमोह, और २५ हैं चारित्रमोह। जो कषायें २५ हैं वे ही नाम चारित्रमोह प्रकृतियोंके हैं। यों भेद प्रभेदोंमें यह मोहनीय कर्म इस प्रकार अपना अनुभाग लिए हुए रहता है।

एकधा त्रिविधा वा स्यात् कर्ममिथ्यात्वसञ्ज्ञकम्।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कञ्च, सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥६८७॥

दृष्टिमोहन प्रकृतियां—उक्त श्लोकमें बताया है कि मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—(१) दर्शनमोह और (२) चारित्रमोह। तो दर्शनमोहका इसमें विवरण चलेगा। दर्शनमोह

http://sahjanandvarnishastra.org/

एक ही किस्मका है मूलमें, सम्यक्त्वमें कोई मोहन कर देना और भेद करें तो ३ प्रकारका है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति—ये तीन हैं दर्शनमोहकी प्रकृतियाँ और चारित्र मोहकी २५ प्रकृतियाँ हैं। उनमें पहिली चार प्रकृतियाँ अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। इनमें दो प्रकारकी आदत पड़ी है। पहिली प्रकृति है सम्यक्त्वको उल्टा कर देना और दूसरी प्रकृति है चारित्रको भी उल्टा कर देना याने अनंतानुबंधीसे दोनों तरफ मोहन है। सम्यक्त्व और चारित्रका घात करे। तो अब ध्यानमें आया होगा कि सम्यग्दर्शनका घात करने वाली प्रकृतियाँ ७ हैं। दर्शनमोहनीयकी तीन, चारित्रमोहनीयकी चार, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ—इन ७ प्रकृतियोंको दृष्टिमोहन कहते हैं। सम्यक्त्वको मोह ले, उल्टा कर दे, सम्यक्त्वका घात करे। यह काम इन ७ प्रकृतियोंका है। मूल प्रसंग यह था कि गति नामकर्मके उदयमें जीवको नारक, तिर्यंच आदिकके देह मिले और उन देहोंके योग्य उनके भाव जगे तो भावोंके सम्बंधमें प्रश्न था कि ऐसा भाव बने तो मोहका काम है नामकर्मको कैसे बता रहे हो ? इसी प्रश्नोत्तरके सिलसिलेमें मोहनीय कर्मका विवेचन किया जा रहा है।

सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृतिका बन्ध न होनेपर भी सत्त्व हो जानेका कारण—देखो मोहनीय कर्ममें जो दर्शन मोहकर्म है, तो जीव जब गड़बड़ भाव बनाता है तो बंध होता है एकका, मिथ्यात्वका। प्रकृतियाँ हैं तीन—(१) मिथ्यात्व, (२) सम्यग्मिथ्यात्व, (३) सम्यक्प्रकृति। पर बंध होगा तो एक मिथ्यात्वका। आप लोग यह सोच रहे होंगे कि जब बंध एक मिथ्यात्वका होता है, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृतिका बंध नहीं होता तो ये आत्मा में आ कैसे गए ? बन्ध न हो, आस्रव न हो तो इसकी सत्ता कहांसे होगी ? तो लो सत्ताका अर्थ समझ लीजिए। अच्छा आप बतलाओ—खेतमें जब मूंग पैदा होती है तो बतलावो एक तरहकी होती है या दाल और चूनी भी होती है। चूनी कहते हैं चूरा हो जानेको। खेतमें से मूंगकी दाल साबुत पैदा होती है या दाल और चूरा भी पैदा होते हैं ? वहाँ तो शंका नहीं करते कि जब खेतमें मूँग साबुत पैदा होती तो यह दाल चूरा कहाँसे आयगा ? वह दाल व चूरा कैसे आया सो सुनो। उन्हें चक्कीमें दला और उस दलनेके प्रसंगमें यह प्राकृतिक बात है कि दाल बनेगी और साथमें चूरा बनेगा। एक बात और साथमें लगी है कि कुछ साबुत मूँग भी निकल आयगी। चक्कीसे दलनेपर तीन चीजें निकलीं। साबुत मूंग, वह तो पहिलेसे ही थी। दाल और चूरा और बन गया तो ऐसे ही बंध तो होता है केवल मिथ्यात्वकर्मका और सत्ता भी जीवमें पहिलेसे पड़ी है। मिथ्यात्वकी, दो की सत्ता नहीं है, लेकिन जब कभी ऐसा अवसर आया, सम्यक्त्वका भाव जगे तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी चार, ये ५ ही तो थे सत्तामें। सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति तो सत्तामें थी ही नहीं, क्योंकि बँधी ही नहीं। तो जब उपशम सम्यक्त्व हुआ इस जीवको पहिली बार तो ५ प्रकृतियोंका उपशम होनेसे, दबनेसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

उपशम सम्यक्त्व हुआ, लेकिन उपशम सम्यक्त्वके होते ही इस उपशम सम्यक्त्वकी चक्कीने ऐसा पीस डाला मिथ्यात्वको कि कुछ बन गई दाल मायने सम्यग्मिथ्यात्व। जैसे मूंगके दो दाने हो जाते ऐसे ही दो दाने इसके निकल आये—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व याने मिश्र—सम्यग्मिथ्यात्व और कुछ हो गए चूरा, वह कहलाया सम्यक्प्रकृति। इस तरह इसकी सत्ता आती है, ऐसी ये तीन प्रकृतियाँ और चार अनन्तानुबंधी ऐसी ७ प्रकृतियाँ दृष्टिमोहन कहलाती हैं।

दृङ्मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोस्ति जन्मिनः।
स स्यादौदयिको नूनं दुर्वारो दृष्टिघातकः ॥६८८॥
अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृष्टिमोहस्य कर्मणः।
शुद्धं जीवस्य सम्यक्त्वं गुणं नयति विक्रियाम् ॥६८९॥

दर्शनमोहनीय कर्मके अनुभाग प्रभावकी चर्चा—यह तो भेद प्रभेदोंका वर्णन उक्त गाथाओंमें कहा—अब उनके अनुभाग क्या, प्रभाव क्या? इसका वर्णन इन दो श्लोकोंमें चलेगा। दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे इस प्राणीका मिथ्यात्वरूप भाव होता है। सो मिथ्यात्व औदयिक भाव है। मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे हुआ, इसलिए औदयिक भाव है। देखो चित्तमें यह बात आनी चाहिए अनेक बार कि जो मेरेमें भाव पैदा हो रहे हैं—मिथ्यात्वका होना, रागद्वेषका होना, ये भाव मेरी सम्पदा नहीं हैं, ये भाव मेरे निजी भाव नहीं हैं, ये औपाधिक भाव हैं, कर्मके उदयसे आये हैं। इनमें प्रीति करनेमें हित नहीं है। बच्चोंमें प्रेम करनेसे हित कुछ न मिलेगा, मुखसे तो कह देंगे, पर ऐसा चित्तमें भी उतरना चाहिए कि जब यह जीव अनादिसे अकेला है, अकेला ही जायगा, अकेला रहेगा तो इसका कुछ क्या है? तो पुत्र मित्रादिकमें प्रीति करना अहित है और पुत्र मित्रादिकमें प्रीति करनेका जो भाव पैदा हो रहा है वह भाव भी अहित है। मेरेमें सम्यक्भावका उदय हो, मिथ्याभाव मत रहो, दर्शन मोहनीयके उदयसे इस प्राणीके मिथ्याभाव जगता है, वह औदयिक भाव है और यह भाव दृष्टिका घात करने वाला है। इस दर्शनमोह कर्मकी ऐसी प्रकृति है कि जीवका जो एक शुद्ध सम्यक्त्व गुण है उसको विकृत कर डालता है। तो मोहका प्रभाव बताया जा रहा है। ऐसे कर्म जीवको सताये हुए हैं, कर्म नहीं सताये हुए हैं। कर्म तो पौद्गलिक हैं, उनका तो उदय आता है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग बन रहा है कि यह जीव अपने ही भाव बिगाड़कर अपने आपको दुःखी कर रहा है।

समीचीन भावसे ही आत्माकी भलाई—एक निर्णय कर लो जीवनमें कि सबसे ऊँची चीज मेरे लिए है तो क्या है? सम्यक्त्वके सामने कोई कितना ही प्रलोभन दे, उन प्रलोभनोंमें मत आवो। उन प्रलोभनोंमें आसक्त मत हो। एक सम्यक्त्वभावको प्राप्त करो। सम्यक्त्व ही आपका रक्षक है। बाकी और सब धोखा है। कोई एक नंगा पलंग हो, जिसपर कुछ

http://sahjanandvarnishastra.org/

बुना न गया हो निवाड़ अथवा रस्सी, खाली पाटी सिरवा लगे हों और उस पलंगपर चादर तान दें और चादरके चारों कोने चारों पायोंपर कच्चे धागेसे बाँध दें, खूब अच्छी तरह चादर तान दें, और जिस किसीसे आपकी बड़ी दोस्ती हो, जिसे कहते हैं बड़े हिले-मिले लंगोटिया यार। उसका आप सत्कार करें। आइये साहब बैठिये। यदि वह उस पलंगपर बैठ जावे तो उसकी क्या हालत होगी ? उसके हाथ पैर और सिर एक हो जायेंगे। मानो आपके पैरोंको वह नमस्कार करने लगेगा। क्या हुआ ? अरे वह तो धोखेका पलंग था, तो ऐसे ही ये सब पाये इन्द्रियके विषय और मनके विषय ये सब धोखा भरी बातें हैं। जो इनमें मोहित होगा, जो इनसे प्रीति करेगा बस वह इस तरह बरबाद होगा। कुछ ध्यानमें तो लावो। यह आपके आत्माके उत्थान की बात है। यदि किसीके चित्तमें यह आती हो, जैसे कि कुछ लोग पहिले से ही भाग गए, कहीं ऐसा न हो कि महाराजकी बात मनमें बैठ जायें तो हमारा घर ही छूट जाय। तो जो अपनी कल्पनामें बड़े चतुर थे वे जैसे पहिलेसे ही भाग गए ऐसा डर आप लोग मत मानें, क्योंकि अगर ऐसी बात आती हो कि आपको आत्महितकी बात चित्तमें उतरती हो तो यह ही बात अपने घरमें लोगोंमें भी उतार दो तो तुम्हारा सम्बंध फिर अच्छा कहलायगा। खुद भी पार हो रहे और दूसरोंको भी पार होनेका उपाय बना दिया। तब जितनेसे प्रीति है सभीका उद्देश्य एक हो जायगा। आत्महित करना, विषयोंसे अलग हटना, फिर क्या तकलीफ रहेगी ? थोड़ा बहुत कष्ट घरमें तब ही तो होता है कि आप तो बन रहे विरक्त और घरके सब हैं अत्यन्त मोही, तब ही तो फिर घरमें गुजारा होना कठिन लगता है। तो ऐसा ही ज्ञान, ऐसा ही वैराग्य आप घरमें कर लें, सब एकसे हो जायें तो सारा आनंद ही आनन्द है।

यथा मद्यादिपानस्य पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति।
श्वेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात् ॥९९०॥
तथा दर्शनमोहस्य कर्मणोस्तूदयादिह।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयमनुते कुदृक् ॥९९१॥

विपरीत बुद्धिकी महद्विपत्तिरूपता—प्रसंग यह चल रहा है कि दर्शनमोहके उदयमें जीवके मिथ्यात्व भाव होता है। जीवकी श्रद्धा विपरीत हो जाती है, उसी सम्बंधमें दृष्टान्तपूर्वक कहा जा रहा है कि जैसे मदिरा पीने वाले पुरुषकी बुद्धि मदिराका नशा चढ़ जानेपर भ्रष्ट हो जाती है तब ही तो मद्यपायी पुरुष या धतूरा खाने वाला पुरुष शंख आदिक सफेद चीजोंको पीला समझता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उल्टा जानता है और कदाचित् कभी कुछ ठीक भी कह दे तो भी मदिरापायी पुरुषकी बात सही नहीं मानी जाती। सूत्रजी में बताया है कि उन्मत्त पुरुषकी भाँति विपरीत ज्ञानोंमें बुद्धि हो जाती है। वह कभी स्त्रीको माँ भी कह देता,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कभी माँको स्त्री भी कह देता और कदाचित् माँको माँ भी कह देता तो भी वह मिथ्या ही माना जायगा, क्योंकि वहाँ दृढ़ता नहीं है, स्वच्छता नहीं है। तो जैसे मदिरापायी पुरुष यथार्थ बुद्धि नहीं रख पाते इसी प्रकार दर्शनमोह कर्मके उदयसे यह जीव यथार्थ बुद्धि नहीं रख पाता। बस संसारमें दुःख है तो इतना ही है कि हमारा ज्ञान व्यवस्थित नहीं रह पाता। कष्ट और कुछ है ही नहीं। घर गिर गया तो गिर जाने दो, दुनियाके सभी घर गिरा करते हैं। कोई परिजन गुजर गया तो क्या करें, सब जीव यहाँ गुजरते ही हैं, संसारकी रीति ही यह है। खुद गुजर गए, देहसे अलग हो गए तो यह तो होना ही पड़ेगा। आयु कर्मका उदय जब तक है तब तक देहमें हैं, जब न रहा तो देहसे निकल भागे। इसमें कष्टकी क्या बात? घर छूट गया तो क्या नुक्सान? छूट गया तो आगे कहीं जायेंगे। तो संसारमें दुःख किसी बातका नहीं है। दुःख है तो एक इस विपरीत बुद्धिका। विपरीत बुद्धि कहो अथवा मोह कहो, सारा दुःख मोहका है, और इसी कारण जिसने मोहपर विजय पायी है वह ही संत कहलाता है, वह ही उत्तम पुरुष कहलाता है। देखो—मोहियोंके पैर मोही भी नहीं पड़ते और निर्मोहके पैर निर्मोह भी पड़ते और मोही भी पड़ते। भले ही मोही कुदेवोंकी पूजा करने वाले कुछ लोग हैं, लेकिन यह मोही है, ऐसा जानकर वे भी नहीं पूजते, वे उन्हें भगवान समझते हैं, कुछ भली बात मनमें रखते ही हैं। भले ही उन्होंने स्वरूप सही नहीं जान पाया इसलिए मिथ्यात्व है, लेकिन बात यह कही जा रही कि मोह अच्छी चीज नहीं होती अन्यथा मोहियों की पूजा होती। प्रभु पूजा ही क्यों है कि निर्मोह अवस्था उत्तम चीज है।

दर्शनमोहके उदयमें जीवको विपरीत बुद्धिका योग—जब दर्शनमोहका उदय रहता है तो जीवको तत्त्वमें विपरीत बुद्धि होती है, अतएवमें तत्त्वबुद्धि होती है, शरीरमें आत्मबुद्धि होती है, शरीरको यह अपना मानता है। इस लोभकषायकी और इस मोहकी कितनी भीतरी चोट है इस जीवपर, जिससे ये हैरान हो रहे हैं, बुद्धि व्यवस्थित नहीं रख पा रहे। मेरा तो मात्र मैं ज्ञानस्वरूप ही हूं, ये धन वैभव आदिक कोई भी परपदार्थ मेरे नहीं, यह झांकी नहीं ले पाते। यदि धर्मका कोई काम सामने आ जाय तो साहसपूर्वक अपनी हैसियत माफिक उसके दान करनेका भाव रहे। उस दान करनेसे कहीं आपका टोटा न पड़ेगा, किन्तु लोभ-कषायमें आत्माका हनन हो जाता है। यदि पुण्यका उदय है तो उसकी पूर्ति स्वयमेव होगी। और मान लो गरीबीकी स्थिति है तो उसमें भी प्रसन्न रहें, एक तत्त्वज्ञानको न छोड़ें, उसके लिए तो निरन्तर प्रयत्नशील रहें, और बाकी सब कुछ छोड़नेका साहस रखें। यह साहस तत्त्वज्ञानी पुरुषके होता है। सभी जीवोंके यह साहस क्यों नहीं होता? मोही जीवोंको तो लोगोंके बीच अपनी शान बगरानेका, ढंगसे शानसे रहनेका, कितनी ही तरहके मोह होते रहते हैं। उससे अन्तः कितना आघात होता है उसे ये सह रहे हैं, उससे अलग होनेका चित्तमें भाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ही नहीं लाते। तो दूसरोंका क्या सोचना? खुदकी सोचें। एक झलक सहज ज्ञानज्योतिस्वरूपकी लावें तो सही। अनन्त भव पाये, उनमें बड़े-बड़े राजपाट भी पाये, पर आज पास कुछ न रहा। आज भी जो कुछ आपको मिला हुआ है वह भी आपके पास न रहेगा। आज मनुष्य हुए हैं, श्रेष्ठ मन मिला है, योग्यता जगी है तो एक इसका भी तो स्वाद लीजिए, अनुभव कीजिए कि मैं अकिञ्चन हूं। अपनेको सबसे निराला अनुभव करें, अन्य सबकी याद छोड़ दें। कैसा विचित्र आनन्द है, उसका भी तो एक बार स्वाद लीजिए। भला कोई नई चीज हो तो उसको खानेको जी चाहता है, अगर स्वाद उसका अच्छा नहीं है तो उसे फिर कभी नहीं खाया जाता। ऐसे ही जो एक नई चीज है, जिसका कभी अनुभव नहीं किया, ऐसा एक अध्यात्मरस सहज ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमें ज्ञानको रमा देना, जहाँ सिर्फ जानन ही जानन रहे अथवा कुछ भी न रहे, ऐसे परमवैराग्य सहित एक ज्ञानकी सामान्य स्थिति बने, उसका स्वाद तो ले लीजिये—अगर आपको पसंद न आये तो छोड़ देना, लेकिन जहाँ अनेक कष्ट किए जाते, अनेक स्वाद लिए जाते, अनेक शान्तिके लिए प्रयत्न किए जाते, वहाँ एक वह भी प्रयत्न करके देख लो—उसमें बड़ा ही विचित्र आनन्द है। लेकिन मोहमदिरापायीको सुमति कैसे जग सकती है कि वह शुद्ध ज्ञान बनाये। इस मोहने इस जीवको झकझोर दिया। इसमें कायरता आ गई है, विषयोंके आधीन बन गया है। किसीसे प्रेम करना, प्रेमकी आशा रखना, यह कितनी बड़ी कायरता है, कितना महान् पाप है। पापको पाप न समझ सकना और उसे धर्मका रूप दे देना, यह इस जीवके लिए कितनी अनर्थकी बात है। अहा, एक अविकार शुद्ध सहज ज्ञानज्योतिरूप अवस्था, यह आपके लिए हितकर है, यही धर्म है, इसके सिवाय और कुछ धर्म त्रिकाल हो ही नहीं सकता। अपने आपकी झलक आये, यह बड़ा स्वाधीन काम है बड़ा सरल काम है, बड़े मजेका काम है, इसमें आकुलताका नाम नहीं। धीरेसे प्रवेश कर रहे हैं, अपनी ही समृद्धि है, उसकी ओर आयें, अन्य बाहरी बातोंकी उपेक्षा करें। जो होता है होने दो। हाँ घरमें रहते हैं, इस नातेसे थोड़ा प्रतिकार करें, मगर चित्तमें इतना मत बसाओ कि आपको अपने आत्माका ध्यान ही न रहे और यह सारा जीवन व्यर्थ हो जाय। यही तो अब तक हो रहा है दर्शनमोहके उदयसे। जब दर्शनमोहका उदय होता है तो यह जीव बेसुध और विपरीत बुद्धि वाला हो जाता है। जो पदार्थ अनात्मीय है, अपना कुछ उसमें नहीं है उसमें मानता है कि यह मेरा है।

चापि लुम्पति सम्यक्त्वं दृङ्मोहस्योदयो यथा।
निरुणद्ध्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः ॥६६२॥

अज्ञानीके सम्यक्त्वलोपके साथ ज्ञाननिरोधका भी संकट—एक ही ऐब रहे, ऐसी स्थिति नहीं हो पाती मोहीकी। जहाँ एक ऐब है वहाँ साथ अनेक ऐब हैं। जैसे दुर्जन, गुंडे-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जन ये अकेले कहीं नहीं रहते। जहाँ एक होगा वहाँ उसके आगे पीछे उसकी पार्टीके अनेक लोग लगे होंगे। कोई सोचे कि एक दर्शनमोहका उदय आया, उससे अगर श्रद्धान विपरीत बने तो बनने दो, एक ही ऐब तो है, पर ऐसा नहीं है, उसके साथ अनेक ऐब लगे हैं। एक अज्ञानका ऐब लगा है। हालांकि जैसे जो गुंडोंका बादशाह है, सारी डोर उसके हाथ है, मगर अकेला रहकर वह बादशाही नहीं पा सकता, इसी तरह दर्शनमोहके उदयसे हुआ मोहभाव व दर्शनमोह कर्म, यद्यपि कर्मोंका बादशाह है, यह ही सारा बिगाड़ कर रहा है, सारी योजना यही बनाता है, करने वाले साथ-साथ और हैं, मगर प्लान, झुकाव, दिशाका दर्शन देने वाला यह दर्शनमोह कर्म है। लेकिन अकेले वही रहे तो इसकी बादशाही रह नहीं सकती। होता ही नहीं ऐसा। अज्ञान भी साथ चल रहा, आसक्ति चल रही, अनेक ऐब साथ-साथ चल रहे। तो जैसे दर्शनमोहका उदय सम्यक्त्वको लुप्त कर देता है, इसी तरह ज्ञानावरणका उदय आत्मा के ज्ञानको रोक देता है। दर्शनमोहके उदयमें सम्यक्त्वका लोप होता है अर्थात् सम्यक्त्व दब जाता है, छिप जाता है, विपरीत परिणम जाता है, और ज्ञानावरणके उदयमें ज्ञान रुक जाता है, उसका विकास नहीं होता। यह स्थिति है अज्ञानी जनोंकी, मोही जनोंकी। जरा अपने आपकी स्थितिपर ध्यान भी दो। हमें जीवनमें कितने काम करनेको पड़े हैं? और इस समय हम किस स्थितिमें हैं? एक विडम्बना और विपत्ति यह भी लगा रखी है कि वर्तमान स्थिति में रुचि रखना, उसमें मौज मानना, अजी मेरा सब कुछ ठीक है, धन दौलतसे भी कोई तकलीफ नहीं है, बाल-बच्चोंसे भी कोई तकलीफ नहीं है, इज्जत प्रतिष्ठाकी भी कोई कमी नहीं है और अपना मनमाफिक धर्म भी कर रहे, पूजा कर रहे, गप्पें करते, लोकमें अच्छे भी कहलाते। बहुत ज्ञान है, बहुत सुलझे हैं, बहुत समझदार हैं, हम तो बहुत ठीक हैं, अच्छी स्थितिमें हैं। अरे इस स्थितिमें जरा भी सन्तोष न करें, सन्तोष लायक यह स्थिति नहीं है। तो संसार विडम्बनाको देखो—इस स्थितिके पानेपर भी जो मोह हो रहा, गल्ती हो रही, भीतरमें प्रमाद बस रहा उसके फलमें हो गए कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे तो फिर इस कल्पित सन्तोष वाली स्थितिको पानेसे क्या लाभ रहा?

बाह्यवृत्तिसे हटकर अन्तर्वृत्तिमें आनेका संदेश—भैया! अभी बहुत काम पड़ा है अपने आपका। यह तो स्थिति सन्तोषके लायक नहीं है। वर्तमान पर्यायमें खुश मत हो, इससे हटे हुएसे रहो। जैसे कोई किसीपर बैठा हो तो वह नीचे वाला ऊपर देखता है, नीचे तो नहीं देखता, इसी तरह आप पर्यायपर बैठकर देखो, ऊपर देखो, नीचे मत देखो, पर्यायको मत देखो। यद्यपि पर्यायसे हम छूटे नहीं हैं, और देखनेका ढंग भी हमारा पर्यायके अनुकूल है, लेकिन दिशा ऊपरकी बताओ। जो अध्रुव है उसे मत देखो—अपनेको मनुष्य मत देखो—इससे ऊपर देखो—आत्मत्व देखो, परमात्मत्व देखो—उस ज्ञानज्योतिस्वरूप परमधामको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

देखो – इस पर्यायमें तृप्त मत हो, यहाँ क्या स्थिति है ? ज्ञानावरणका उदय ज्ञानको रोक रहा है, दर्शनमोहका उदय सम्यक्त्वका लोप कर रहा है। कौनसी यहाँ मौज माननेकी स्थिति है ? इसको तो यों समझो—जैसे कि संसारके अन्य जीव, ये कीड़े-मकोड़े। सन्तोष लायक स्थिति है तो ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, ज्ञानकी ओर झुकाव, दृष्टि। ये वैभव क्या हैं ? वै मायने निश्चय से। संस्कृतमें वै शब्द बहुत-बहुत आया करता है। और भव मायने संसार। जिसे लोग वैभव कहते हैं वह निश्चयसे दुःख है, संसार है। इन सोना-चाँदी, पैसा, ईंट पत्थर आदिक जड़ पदार्थोंमें धरा क्या है ? इनसे हमें मिलता क्या है ? थोड़ा यह सोच लो कि बहुतसे लोग अच्छा कह देते हैं, बहुतसे लोग जो चाहे कह देते हैं वे मूर्ख ही तो हैं। मूर्खोंसे अपनेको अच्छा कहलानेकी कल्पना करना, इसका अर्थ क्या है कि मूर्खोंमें बादशाह बननेका प्लान बनाया जा रहा है। यह ही तो अर्थ है, स्थिति है, ठीक है, पर भीतरमें श्रद्धा तो पवित्र बनाओ—वर्तमान स्थिति सत्य नहीं है, सन्तोषके लायक नहीं है, तृप्तिके लायक नहीं है। दर्शनमोहका उदय सम्यक्त्वका लोप कर रहा और ज्ञानावरणका उदय ज्ञानका निरोध कर रहा। अब क्या रहा इस व्यक्तिके पास ? ज्ञान है तो उसकी यह दशा और स्वच्छता है तो उसकी यह दशा। कोई पुरुष कूड़ा-करकट जोड़कर अपनेको धन्य माने तो उसे आप क्या कहेंगे ? इसी तरह जो पुरुष अपने विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपको तजकर जड़ पदार्थ पाषाण जड़ चीज, जिसमें ज्ञान नहीं, आनन्द नहीं, कुछ बात नहीं उसको छोड़कर अपनेको धन्य माने तो उसकी क्या स्थिति है ? इसे भी अज्ञानी क्या समझेगा ? ज्ञानी जानता है और इस दृष्टिमें देखो तो अज्ञानियोंने ऐसा मोह लगा रखा है कि जिसे वे खुद नहीं समझ सकते। उस दुःखको तो ज्ञानी पुरुष जानता है, तब ही तो उनके करुणा उत्पन्न होती है। कितना कष्ट है एक ज्ञानमय ब्रह्मस्वरूपके बोध बिना। यह स्वयंकी बात स्वयंमें निरखनेकी है। संकल्प होना चाहिए इस जीवनमें, एक मोड़ लेना चाहिए कि मैंने सब समझ लिया, बाह्य सारे पदार्थ सारहीन हैं, मेरे लिए कुछ भी कामके नहीं हैं। उनकी ममता न रखें, उनका लोभ न रखें और अपनी इस ज्ञानज्योतिको निरखनेमें अपना समय लगायें, तन, मन, धन, वचन, इन सबका उपयोग करें और इस ज्ञानस्वरूपकी उपासना करें।

यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात्।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात् ॥९९३॥

सम्यक्त्वलोप व ज्ञाननिर्णाशके साथ दर्शननिर्णाशका भी अज्ञानीको संकट—उक्त श्लोकमें दो ऐब बताये थे—एक तो दर्शनमोहका उदय होनेसे सम्यक्त्वका लोप हो जाता है और ज्ञानावरणका उदय होनेसे ज्ञानका निरोध हो जाता है। अब यहाँ तीसरा ऐब और बता रहे हैं। जैसे ज्ञानावरणका उदय होनेसे ज्ञानका विनाश हो जाता है, ऐसे ही दर्शनावरणका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

उदय होनेसे दर्शनका भी विनाश हो रहा है। जैसे यह आत्मा अनेक पदार्थविषयक ज्ञान नहीं कर पाता, ऐसे ही ज्ञान करने वाले आत्माका दर्शन भी नहीं कर पाता। पदार्थको जाना और पदार्थके जानने वालेको हमने समझ लिया, ये दो कलायें हैं इस आत्मामें, पर ज्ञानावरण और दर्शनावरणका उदयका निमित्त पाकर इस जीवने कलाओंका उच्छेद किया है, तो जैसे इसके सम्यक्त्वका लोप है, ज्ञानका निरोध है, इस प्रकार दर्शन गुणका भी निरोध है। दर्शनगुण अपनी ऐसी विशिष्ट कला रखता है कि दर्शनका दर्शन यदि हो जाय तो सम्यग्दर्शन हो जायगा। ज्ञान और दर्शन सभी जीवोंमें सदाकाल पाये जा रहे हैं। जानना, और जो जानना है उसका प्रतिभास होना। पर प्रतिभास होकर भी उसे ग्रहण नहीं कर पाते कि यह है दर्शन और यह है प्रतिभास। तो दर्शनगुण भी बड़ा महत्त्व रखता है, उसका भी विनाश हो गया इस दर्शनावरणका उदय पाकर। इस तरह इस जीवने गरीबी ही गरीबी पायी है। यों तो सूकर, भैंसा आदिक कीचड़में लोटकर और अपने शरीरमें खूब कीचड़ लपेटकर मस्त रहते हैं, उससे वे अपनेको बड़ा महान् सुखी अनुभव करते हैं और गर्व करते हैं। उनकी पर्याय ही ऐसी है कि वे उसमें मस्त हैं, खुश हैं, इसी तरह मोहकी पर्याय ऐसी है कि लग रहा यह सब मैल, बाह्य पदार्थोंमें आशा लगाना, ममता जगना यह मोह नहीं है क्या? यह तो आत्माका दोष है। पर इसमें मस्त हैं, बड़े खुश हो रहे हैं, बड़ा आकर्षण है और इसपर भी उस प्रेमकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। दूसरोंसे प्रेम रखना यह क्या है? यह तो कीचड़ लगाना जैसा है और उससे ही ये अपनेमें गर्व अनुभव करते हैं। अरे अपने भीतर निष्कलंक ज्ञानज्योतिमात्र, जिसमें कष्टका काम नहीं, जो कभी अधूरा नहीं, जिसमें किसी परका प्रवेश नहीं, उस अन्तस्तत्त्वको नहीं अपना पाता। तो इस तरह यह जीव मोही है, अज्ञानी है और अद्रष्टा है।

यथाधाराधराकारैः गुण्ठितस्यांशुमालिनः।
नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात् स्वतोपि वा ॥६६४॥

अन्तस्तत्त्वकी अन्तःप्रकाशमानता—जैसे मेघोंसे आच्छन्न सूर्य उसका प्रकाश नहीं है, लेकिन सूर्यमें स्वयंमें प्रकाश है कि नहीं? मेघोंकी घटा आ गई। अब यहाँ प्रकाश रुक गया, तो रुक तो गया प्रकाश, लेकिन सूर्यमें स्वयंमें क्या यहाँ जैसा अंधेरा है? वह अपनेमें प्रकाशमान है। तो इसी तरह द्रव्यदृष्टिसे यदि निरखें तो आत्मा अपने स्वभावसे स्वयं ज्ञानस्वरूप है, पर आ गया है ज्ञानावरण, तो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रकाशमें नहीं आ रहा है। जैसे इन बादलोंके ऊपर हवाई जहाज चलता है, बादल बहुत नीचे रह जाते हैं, ऊपर हवाई जहाज से चलने वाले लोगोंको क्या तकलीफ है? बल्कि उसमें बैठे हुए तो नीचेके बादलोंका नजारा देख-देखकर खुश होते चले जाते हैं। उन्हें कष्ट क्या? तो इस तरह इन सब कर्मकलंक आवरण, इन सबसे परे जो आत्माका निज ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूप तक जो पहुंच गया,

http://sahjanandvarnishastra.org/

वहाँ जो विहार कर रहे उनको क्या अड़चन है ? वे तो कर्म और कर्मफलका दृश्य देखकर ज्ञातादृष्टा रहते हैं। तो यों इन सब आवरण कर्म, नोकर्म इन सबसे परे जो मेरा अन्तःज्ञान-ज्योतिस्वरूप है उस स्वरूप तक पहुंचनेका पौरुष कर लें। ये दिखने वाले मायामयी दृश्यमान पदार्थ तेरे साथ सदा न रहेंगे। इनके परिचयमें तथा मन, वचन, कायकी जो क्रियायें होती हैं उनमें भी यह आस्था मत रखें कि ये मेरी चीज हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष जानता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूं या जो कुछ मैंने अब तक किया वह एक अज्ञानमय चेष्टा है। कैसा निराला है यह ज्ञान ? सामायिक भी करते हैं, वंदना भी करते हैं, सिर भी झुकाते हैं, पर विवेक है कि यह तो सब अज्ञानकी लीला है। यों करना, यों चलना ये सब अज्ञानकी चेष्टायें हैं और भीतर जो एक ज्ञानज्योतिस्वरूप अंतस्तत्त्व है, उसकी जो किरण है, जो जगमगाहट है वह है एक ज्ञानचेष्टा। यहाँ तक जिसकी विरक्ति है, उपेक्षा है धर्मका मर्म तो उसने पाया, और यहाँ थोड़ा बहुत धर्मकी बात सीख लेने वाले या कुछ ऊपरी बात करने वाले यहीं खुश हो रहे। समझ लेते कि मैंने बहुत धर्म कर लिया और दूसरोंको मैं बहुत धर्ममें लगा देता हूं, अरे धर्ममें लगना क्या और लगाना क्या—पहिले तो यही जानो। कितना गम्भीर और कितना शान्त मैं अन्तस्तत्त्व हूं। तो वर्तमान पर्याय जो कुछ भी है वह संतोषका साधन न कबूल करे। इससे तो हटना है। यह पर्याय—इससे हटकर आगे बढ़ना है, यह कोई मेरा परमधाम नहीं है।

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह।
तन्नौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल ॥९९५॥

ईषत् ज्ञानरूप अज्ञानकी क्षायोपशमिकता—जिस ज्ञानको लोग अज्ञान कह देते हैं, जैसे कि किसीके थोड़ा ज्ञान है अथवा कुछ उल्टासा ज्ञान है ऐसे ज्ञानको लोग अज्ञान कह देते हैं, पर वास्तवमें ऐसे अज्ञान शब्दसे कहा हुआ भी यह भाव औदयिक भाव नहीं है, किन्तु क्षायोपशमिक भाव है। यहाँ औदयिक भावोंके वर्णनका प्रकरण चल रहा है। अज्ञान भी औदयिक भाव है, जिसका विवरण आगे किया जायगा, लेकिन थोड़ेसे ज्ञानको जो लोग अज्ञान कह देते हैं, उसका अर्थ यह नहीं है कि जैसे भींत, पत्थर आदि ज्ञानरहित हैं इसी प्रकार यह भी ज्ञानरहित है। अज्ञानका अर्थ है थोड़ा ज्ञान होना। जैसे किसी कन्याका पेट बहुत पतला होता है, जिसे संस्कृतमें अनुदरा कहते हैं और हिन्दीमें कह देते हैं कि इसके तो पेट ही नहीं है तो क्या पेटका अभाव है। इसी तरह अज्ञान कह दिया, इसके ज्ञान नहीं है, तो क्या ज्ञान है ही नहीं ? बहुत थोड़ा सूक्ष्म ज्ञान है, इस कारण कह देते हैं कि अज्ञान है, लेकिन यह अज्ञान क्षायोपशमिक भाव है, औदयिक भाव नहीं है। औदयिक भावरूप जो अज्ञान है उसका आगे वर्णन किया जायगा। तो जो कुछ भी थोड़ासा लोगोंके ज्ञान पाया जाता है वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है, इस कारण वह क्षायोपशमिक भाव है, ऐसा अज्ञान औदयिक नहीं है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अथास्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृतम् ।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेत्तुं नालं मूर्छितजन्तुवत् ॥९९६॥

केवलज्ञानावरणके उदयमें होने वाले ज्ञानाभावरूप अज्ञानकी औदयिकता—अब अज्ञानकी बात बतायेंगे कि किसे अज्ञान कहते हैं ? उसी सिलसिलेमें प्रथम यह बात बतला रहे है कि केवलज्ञान नामका एक विशाल ज्ञान होता है। प्रभुके केवलज्ञान होता है, जो तीन लोक तीन कालकी समस्त द्रव्यपर्यायोंको यथार्थ जानता है, ऐसे केवलज्ञानका आवरण करने वाला कर्म केवल ज्ञानावरण कहलाता है, सो जब केवल ज्ञानावरणसे आवृत है, ऐसा ज्ञान जब स्व और अन्य अर्थको जाननेके लिए यह जीव समर्थ नहीं है। जैसे केवलज्ञानमें जाने जाते हैं समस्त लोक और कालके पदार्थ, उनको जाननेमें यह समर्थ नहीं है। जैसे कोई प्राणी किसी चीजको सूँघकर मूर्छित (बेहोश) हो जाय तो वह स्व और अन्य अर्थका ज्ञान नहीं कर पाता, इसी तरह केवल ज्ञानावरणसे आवृत केवलज्ञान हो गया है अनादिसे ऐसा आवृत चला आ रहा है तब उसके विषयभूत स्व और अन्य अर्थको जाननेमें यह जीव समर्थ नहीं हो पाता। कौनसा अज्ञान औदयिक है, यह बात केवल ज्ञानावरणसे उठाकर बताते जायेंगे। देखो केवल-ज्ञानावरण होनेसे जिन पदार्थोंका ज्ञान हो ही नहीं पाया है ऐसा जो अज्ञानभाव है वह है औदयिक भाव और ऐसा औदयिक अज्ञानभाव १२ वें गुणस्थान तक रहता है, क्योंकि जहाँ तक केवलज्ञान नहीं हुआ है वहाँ तक अज्ञान कहा गया है।

यद्वा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा स्वान्तपर्ययम् ।
नार्थक्रियासमर्थं स्यात्तत्तदावरणावृतम् ॥९९७॥

अवधिज्ञानावरण व मनःपर्ययज्ञानावरणके उदयमें होने वाले ज्ञानाभावरूप अज्ञान की औदयिकता—ज्ञान ५ प्रकारके बताये गए हैं—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अव-धिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान और (५) केवलज्ञान। केवलज्ञानावरणसे आवृत केवलज्ञान वस्तु को जाननेमें समर्थ नहीं है। केवलज्ञान वहां है ही नहीं, वहाँ वह अज्ञान है। तो उसके बाद इस श्लोकमें बता रहे हैं कि वहाँ अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरणसे आवृत्त ज्ञान भी पदार्थको जाननेमें समर्थ नहीं है। अवधिज्ञान जिन पदार्थोंको जान सकता है अवधिज्ञाना-वरणसे आवृत्त हो जाय तो उन्हें जान तो न सकेगा तो उस अपेक्षासे वह अज्ञान है, इसी प्रकार मनःपर्ययज्ञान जिन पदार्थोंको जान लेता है, मनःपर्ययज्ञानसे आवृत्त होनेपर उन्हें जान तो न सका। तो जो न जान सका ऐसा जो ज्ञानका अभाव है वह है औदयिक। अवधिज्ञानका विषय है कुछ भूत-भविष्यके, वर्तमानसे रूपी पदार्थोंको जान लेना। वहाँ क्या हो रहा है ? पहिले भवमें क्या थे, अगले भवमें क्या बनेंगे ? जो कुछ थोड़ी दूर तकको बातोंको रूपी पदार्थ को जान सकता है उसे कहते हैं अवधिज्ञान। तो अवधिज्ञानावरणका उदय हो तो ऐसा ज्ञान

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो न बन सकेगा । मनःपर्ययज्ञान जानता है दूसरेके मनकी बात, जो उसे विचारा हो, पहिले विचारा हो, आगे विचारेंगे, विचारते थे, आधा ही विचार पायें तो उन सब बातोंको मनःपर्ययज्ञान जान जाय, यह ज्ञान साधु जनोंके होता है । तो जब मनःपर्यय ज्ञानावरण छाया हो तो ऐसा ज्ञान जीव नहीं कर सकता है तो इस आवरणके होनेपर जो ज्ञान नहीं होता है ऐसा अज्ञान भाव औदयिक ज्ञान कहलाता है ।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदावरणावृतम् ।
यद्यावतोदयांशेन स्थितं तावदपन्हुतम् ॥६६८॥

मतिज्ञानावरण व श्रुतज्ञानावरणके उदयमें आवृत अंशोंमें होने वाले ज्ञानाभावरूप अज्ञानकी औदयिकता—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान समस्त संसारी जीवोंके नियमतः हैं । किसीको अवधिज्ञान हो गया उसके भी ये दो ज्ञान हैं । किसीके मनःपर्ययज्ञान हो जाय उसके भी ये दो ज्ञान हैं । केवलज्ञान हो जानेपर, अरहंत अवस्था प्रकट हो जानेपर मतिज्ञान, श्रुतज्ञान नहीं रहता । मतिज्ञानका अर्थ है कि इन्द्रिय और मनसे पदार्थको जान जाना वह मतिज्ञान है । काला, पीला, लाल, सफेद आदिक रंगोंका ज्ञान होना, खट्टा, मीठा, चरपरा आदिक रसोंका ज्ञान होना, ठंड गर्मी आदिक स्पर्शोंका ज्ञान होना, सुगंध, दुर्गन्ध आदिक-गंधोंका ज्ञान होना, इस तरह मन और इन्द्रियसे जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं । और मतिज्ञानसे जानकर उसी पदार्थके बारेमें कुछ और बातें जानना वह श्रुतज्ञान है । जैसे मतिज्ञानसे जान लिया, जो कुछ सामने रखा है, अब यह बैन्च है, पुरानी है, मन्दिरकी है आदिक जो कुछ बातें जानते गए वह सब श्रुतज्ञान है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें फर्क यों समझ लीजिए कि मतिज्ञानसे जो ज्ञान होता है उसमें विकल्प नहीं होता है, ख्याल नहीं बनता । उसका विश्लेषण नहीं हुआ करता । बस जान लिया । जैसे बच्चा पैदा हुआ तो १०-५ दिन वह आँखोंसे सब कुछ देखता तो रहता है, लेकिन यह बोध नहीं कर पाता कि यह भींत है, यह माँ है, यह अमुक है । यह एक दृष्टान्त दिया है । इसी तरह मतिज्ञानसे जान तो लिया सब कुछ, लेकिन सब कुछ जो जाननेमें आया उसके सम्बंधमें विकल्प नहीं है । बल्कि यहाँ तक समझिये कि देख तो लिया, मगर यह पीला है, यह काला है, यह लाल है, इस तरहका विकल्प होना श्रुतज्ञानका काम है । जाना यद्यपि पीलेको पीला ही, मगर यह पीला है, इस तरहका बोध मतिज्ञानमें नहीं होता । अब समझ लीजिए कि जितने ख्याल हैं, जितने विकल्प हैं, विचार हैं वे सब श्रुतज्ञान हैं । मतिज्ञान तो निर्विकल्प है । तो ये दोनों ज्ञान जितने अंशोंमें हैं, आवरणसे आवृत हैं उतने अंशोंमें इसका भी ज्ञान नहीं रहता । जैसे अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरणसे यह ज्ञान पूरा आवृत रहता है और कुछ नहीं समझ पाते अपने विषयको, लेकिन मतिज्ञान व श्रुतज्ञानपर पूरा आवरण नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

आता । कितना ही छोटा जीव हो, एकेन्द्रिय हो, निगोद हो, पर उसपर पूरा आवरण नहीं आ सकता । अगर मतिज्ञान श्रुतज्ञानावरण भी जीवपर पूरा छा जाय तो पुद्गलकी भाँति अन्य अजीव द्रव्यकी भाँति जड़ बन जायगा । कोई भी जीव ऐसा नहीं है कि जिसमें कुछ न कुछ ज्ञान प्रकट न हो । इसी कारण मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरणका आवरण जीवपर पूरा नहीं होता । जितने अंशोंमें होता है उतने अंशोंमें ज्ञान ढका हुआ रहता है और उतने अंशोंमें वहाँ औदयिक अज्ञान है ।

यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम् ।
स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्वावरणक्षयात् ॥९९९॥

इस श्लोकमें केवलज्ञानकी बात बतायी जा रही है । केवलज्ञान क्षायिक भाव है, क्योंकि केवलज्ञान प्रकट रीतिसे सम्पूर्ण पदार्थका जाननहार है और ऐसा होता ही है, क्योंकि समस्त ज्ञानावरणका क्षय हो चुकता है तब केवलज्ञान प्रकट होता है याने समस्त ज्ञानावरण न रहा तो अपने आप हो समस्त ज्ञान प्रकट हो गया, ऐसा जो केवलज्ञान है वह क्षायिक-भाव है । जो भाव कर्मके क्षयका निमित्त पाकर प्रकट होता उसे क्षायिक भाव कहते हैं । इन ५ प्रकारके ज्ञानोंमें केवलज्ञान ही क्षायिक भाव है, शेष ४ ज्ञान क्षायोपशमिक हैं । उन शेष चार ज्ञानावरणोंमें सर्वघातीस्पर्धक और देशघातीस्पर्धक दोनों प्रकारके स्पर्धक हैं, तब ही क्षयोपशम ज्ञान कहलाता है । किन्तु केवलज्ञानावरण तो सर्वघाती है, और आवरणमें तो ऐसा होता है कि कुछ आवरण हट गए, कुछ न रहे, लेकिन केवल ज्ञानावरण तो ऐसा नहीं है । केवल ज्ञानावरण मिटा तो पूरा मिट गया । न मिटा तो पूरा रहा । इसी तरह जब केवल-ज्ञान होता तो पूरा होता और जब नहीं है तो नहीं है, ऐसा समस्त ज्ञानावरणोंके क्षयसे प्रकट हुआ केवलज्ञान क्षायिक भाव है । यहाँ कुछ भावोंकी चर्चा चल रही है । मूलमें बताया था कि औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये पाँच भाव हैं । इन भावोंमें सबसे पहिले औदयिक भावोंका वर्णन कर दिया गया और उस प्रसंगमें यहाँ ज्ञानकी चर्चा चल रही है । तो कैसे आवरण होता है, कैसे औदयिक भाव बनता है, कैसे उनका क्षय होता है और क्षय होनेसे क्षायिक भाव बनता है, यह सब समझनेके लिए थोड़ा कर्मोंका वर्णन किया जा रहा है ।

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक् ।
अष्टचत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया ॥१०००॥

कर्मोंके भेद प्रभेदकी संख्या—बारह भावनामें आप लोग पढ़ते हैं—"ज्ञानदीप तप तैल भर, घर सोधै भ्रम छोर । या विधि बिन निकसै नहीं, पैठे पूरब चोर ।।" तो वे कर्म-चोर अपने आत्मामें पड़े हुए हैं । उन चोरोंकी बात कही जा रही है । वे कैसे हैं चोर सो

बताओ। तुम्हारे घरमें कोई चोर छिपा हो तो उसको देखनेकी तुम्हारी इच्छा होती कि नहीं ? क्यों इच्छा होती कि अगर उस चोरको न देखें और घरमें वह चोर बना रहेगा तो वह तो रात भरमें कुछसे कुछ नुक्सान कर देगा। शामके समय जीनाके नीचे देख लिया, यहाँ वहाँ देख लिया, चोर तो नहीं घुसा, अगर नहीं देखते तो वह नुक्सान कर देगा। उसे देखो और निकालो। चोरको निकाल देना कितना सरल है ? जरासा देख लिया निकल जायगा, जरा खाँस दिया निकल जायगा। चोरके कितनी दम ? ऐसे ही जरा अपने घरके चोरकी बात देखो—आत्मामें कर्मचोर घुसे हुए हैं। कोई डरपोक हो तो उस चोरसे डर जायगा, उसे बलवान समझ लेगा और वह चिल्लायेगा, पर इतनी हिम्मत न करेगा कि उसे खाँस दे, डाँट दे, ऐसे ही जो विषयोंके कायर पुरुष हैं वे इन कर्मचोरोंसे डर गए। खांस भी नहीं सकते, जरा दृष्टिसे देख भी नहीं सकते, डर बसा हुआ है तो कर्मचोर इसपर हावी हैं। वैसे इन कर्मचोरोंमें ताकत कुछ नहीं है। जरा अपने इस ज्ञानप्रभुको देख लो और थोड़ासा खाँस दो। खाँसनेके मायने यहाँ मुखसे खाँसना नहीं, किन्तु जरा विवेकपूर्वक अपने आत्माकी ओर झुककर इन विषयोंको झकझोर दो, ये कर्मचोर बहुत जल्दी भाग जायेंगे। तो अब इन कर्मचोरोंके सम्बन्धमें बात यह कही जा रही है कि कैसे-कैसे हैं ये चोर ? ये कर्म ८ प्रकारके बताये गए हैं—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय और (४) अन्तराय, (५) वेदनीय, (६) आयु, (७) नाम और (८) गोत्र। तो मूलमें तो ये कर्म ८ प्रकारके बताये गए—आठ काठकी खाटपर आरामसे सोते कि नहीं ? देखो खाटमें ८ काठके आठ लगते हैं ना, ४ पाये, २ पाटी, २ सिरा, तो इन ८ काठकी फंसी हुई खाटमें बड़े मजेमें सोता है आदमी। यहाँ भी देख लो ये सब जीव ८ कर्मके संयोग वाली खाटमें बेहोश होकर सो रहे हैं। यहाँ कोई ऐसा बुद्धू न मिलेगा जो उस खाटपर सोये हुए व्यक्तिको भी खाट कह दे। लेकिन यहां ये बहुत बुद्धू मिलेंगे जो आठ कर्मोंके संयोगमें सोते हुए पुरुषको ही कह देंगे कि यह कर्म है, जीव है। उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको पहिचाननेमें कठिनाई पड़ेगी। ऐसे ये कर्म ८ हैं और इनके उत्तर भाव हैं १४८। ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी ९, मोहनीयकी २८, अन्तरायकी ५, वेदनीयकी २, आयुकी ४, नामकर्मकी ९३ और गोत्रकी २। ये सब मिलकर १४८ प्रकृतियां होती हैं।

दृश्य पदार्थोंकी प्रकृतिधर्मता व प्रभुलीलारूपता—देखो प्रसिद्धि इस बातकी हो रही है अनेक दार्शनिकोंमें कि जो कुछ जगतमें है वह सब प्रकृतिका धर्म है। पुरुष तो एक चैतन्य-स्वरूपमात्र है। वह न करता है, न भोगता है। वह तो एक साक्षी है। नयदृष्टिसे देखो तो बात उनकी सत्य है। यहाँ यह सब जो कुछ दिख रहा है यह प्रकृतिका धर्म है, पर उन *कहने वालोंसे यह तो पूछो कि प्रकृति किसे कहते हैं ? प्रकृतिका आकार क्या है ? ढंग क्या*

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है ? मुद्रा क्या है ? तो न बता पायेंगे। जैसे कि आजकल भी लोग कुदरत शब्द तो जल्दी बोल देते हैं—"यह सब कुदरतका खेल है" और उनसे पूछो कि वह कुदरत क्या है ? जैसे बैन्च है, भींत है, ऐसे ही कुदरत क्या चीज है ? जबानमें सबके चढ़ा है कुदरत, प्रकृति, पर चीज क्या है वह कुदरत, इसका स्पष्टीकरण जैनशासनमें है। क्या है वह प्रकृति, जिसका कि यह धर्म है। किसी बागमें बड़े सुहावने फूल हैं, एक फूलमें ६-६ रंग हैं। एक पेड़के फूलोंमें कोई लाल हो रहा, कोई सफेद, कोई किसी रंगका, और उनसे पूछो कि यह क्या माजरा है ? पेड़ तो यह एक है और एक ही डालीमें पास ही पासमें एक फूल लाल हो गया, एक सफेद हो गया। अच्छे-अच्छे बागोंमें जाकर देख लो, यह क्या मामला है ? जब समझमें नहीं आता तो कोई कह देते कि यह तो ईश्वरकी लीला है, उसका कौन पार पा सकता ? कोई कहता कि यह तो कुदरतका खेल है तो वह कुदरत क्या चीज है इसे कोई नहीं जानता ? ये सब प्रकृतिके धर्म हैं, प्रकृतियां हैं १४८ और अनुभाग ऐसा पड़ा है कि जिसका उदय आये तो ऐसे-ऐसे शरीरोंकी रचना हुई। ये प्रकृतियाँ १४८ नहीं हैं। आगेके श्लोकमें बतावेंगे कि अनगिनते प्रकृतियाँ होती हैं, पर अनगिनती प्रकृतियाँ बताकर कोई समझानेकी बात तो न चल सकेगी। उन अनगिनते प्रकृतियोंको सूक्ष्म करके, संक्षेप करके उन्हें १४८ कहा जाता है। जैसे १४८ का संक्षेप करके बताया गया है ८ और ८ का संक्षेप करके बताया जाता है २—घातिया और अघातिया। ऐसे ही प्रकृतियाँ अनगिनती हैं और उनके अनुभागका उदय होता है तब ऐसी-ऐसी रचनायें होती हैं। वह चीज सूक्ष्म है, किसीको समझमें आती नहीं। युक्ति, अनुभव, आगमसे जरूर गम्य है। तब लोग कभी कुदरत कह देते हैं, कभी ईश्वरकी लीला कह देते हैं। बात दोनोंकी सच है। कुदरत मायने प्रकृति, उसकी एक लीला है और ईश्वर मायने यह ज्ञायकस्वरूप जीव, जिसने जन्म लिया है उसकी भी लीला है, पर किस नयसे क्या वचन है, इसे न जानकर लोग अपनी कल्पनाकी बात कह देते हैं। तो जिसकी प्रकृतियाँ, जिसके धर्म ये सब कुछ हैं, जो आज निर्जीव हैं ये भींत, पत्थर, बैन्च आदिक, इस समय इनमें जीव नहीं है, लेकिन ये बने किस तरह थे ? जब इनमें जीव था, काठ था, पृथ्वी थी, उनका शरीर बना था, अब नहीं है जीव तो आखिर इनमें जीवकी करतूत तो वे। यों है ईश्वरकी लीला। कोई यों माने कि कोई एक ईश्वर बैठा है, उसके मुनीम लगे हैं, खाता बही हो, सिपाही आ रहे हैं, उनको मारने जा रहे हैं। किसीसे भूल हो गयी, उसे मारना न था, मार दिया तो उन्हें डाँट पड़ती है—इसे क्यों मार डाला ? जावो उस दूसरेको लावो, ऐसी कोई लीला नहीं है। प्रकृति लगी है, जीवके साथ उन कर्मोंका उदय है और निमित्तनैमित्तिक इसी प्रकारके भाव चल रहे हैं, सारी व्यवस्था बन रही है। तो ऐसे ये कर्म मूलमें ८ प्रकारके हैं और उत्तर भेदोंमें ये १४८ प्रकारके हैं।

http://sahjanandvarnishastra.org/

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम् ।
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम् ॥१००१॥

शक्तिकी अपेक्षा कर्मोंकी अनन्तता—उक्त श्लोकमें बताया है कि कर्म ८ प्रकारके हैं और उनके भेद १४८ हैं। अब इस श्लोकमें बतला रहे हैं कि १४८ के भी और उत्तरभेद करें तो कितनी तरहके कर्म हैं, कितनी तरहकी प्रकृतियाँ हैं ? लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। सुनकर तो यों लग रहा होगा कि बहुत थोड़े हैं, लोक तो इतना बड़ा है कि ३४३ घन-राजू प्रमाण और उसका असंख्यातवाँ हिस्सा भर बताया है, लेकिन ये थोड़े नहीं हैं। सूईकी नोक एक कागजपर गाड़ दी तो उससे जो गड्ढा बन गया उसमें अनगिनते प्रदेश हैं। तो लोक के जो असंख्यातवें भाग बताये हैं वे भी अनगिनते हैं, इतने होते हैं कर्म और प्रकृति। तो यह तो है प्रकृतिकी अपेक्षासे, लेकिन शक्तिकी अपेक्षासे तका जाय तो अनन्त हैं। एक ऐसा अन्दाज कर लो—केवलज्ञानमें कितनी शक्ति बतायी गई है, कितने अविभाग प्रतिच्छेद हैं ? सारे जीव, सारे पुद्गल, सारा आकाश सबको जोड़ लो, उससे अनन्ते गुना केवलज्ञानकी शक्ति अंश हैं, जिसके लिए यह कहना पड़ता कि सारा लोक, जीव परिणाम आकाशके प्रदेश और भूत भविष्य वर्तमान कालके समय आदि आदि। इन सबका जितना जोड़ हो उतना केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदोंमें से घटा दो, जो बचा उसमें यह ही जोड़ दो, उतना है केवलज्ञान। कहनेका और ढंग नहीं मिल सका, इसलिए यों कहना पड़ा। तो ऐसे अनंत शक्ति वाले केवल ज्ञानको जो प्रकट न होने दे उस केवलज्ञानावरणमें आप कितनी शक्ति समझेंगे ? और नहीं तो बराबर की तो मानो—तो इन कर्मोंमें अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं। यद्यपि थोड़ा फर्क रहता है कि केवलज्ञानावरणका एक स्थान केवलज्ञानके अनेक स्थलोंको आवृत कर दे, उस दृष्टिसे थोड़ा अन्तर आ गया, लेकिन कर्मोंमें शक्तियाँ अनन्त हैं, इसमें अन्तर नहीं आता।

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया ।
घातकत्वाद्गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः ॥१००२॥

जीवगुणोंका घात करनेसे घातिया कर्मोंकी अन्वर्थसंज्ञता—औदयिक भावका वर्णन करते हुए यह बताना आवश्यक समझा कि जिनके उदयसे औदयिक भाव होता है उन कर्मोंकी जानकारी भी तो होनी चाहिए। औदयिक भावका क्या अर्थ है ? जो भाव कर्मका उदय पाकर हो उसे औदयिक भाव कहते हैं। तो वे कर्म क्या चीज हैं उनका यह वर्णन चल रहा है। कर्म ८ प्रकारके बताये गए थे—उनमें ४ घातिया हैं और ४ अघातिया हैं। घातिया कर्म है ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। इनका नाम घातिया क्यों पड़ा कि ये जीव के गुणोंका घात करते हैं। जीवके गुण हैं ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, शक्ति आनंद आदि। इन सब गुणोंका घात करनेके निमित्तभूत हैं ये घातियाकर्म। सो इनका नाम बिल्कुल सही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रखा गया है। जीवके गुणोंकी हिंसा करें, विनाश करें, दबा दें, विकास न होने दें उनका नाम है घातियाकर्म। घातियाकर्म मूलमें ४ हैं। और उत्तरभेद देखो तो ५+९+२८+५ ये ४७ प्रकृतियाँ घातियाकी कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त १६ प्रकृतियाँ और हैं जो घातिया-कर्मके नहीं हैं, किन्तु केवलज्ञान होनेसे पहिले जिनका विनाश हो जाता है। ३ आयु तो पहिले से नहीं, शेष १३ प्रकृतिका व्युच्छेद होता है, ऐसी ६३ प्रकृतियोंके नाशसे अरहंत अवस्था प्रकट होती है। जयमालमें कहा ही है कर्मकी ६३ प्रकृतिनाश अथवा च उ कर्मसु त्रेसठ प्रकृति-नाश। ४ कर्म हैं घातिया उनका सबका विनाश है और १३ अन्य कर्मप्रकृतियाँ हैं उनका विनाश है। ३ आयु थी नहीं, सो अरहंत अवस्था प्रकट होती है। तो ये ४७ प्रकृतियाँ जीवके गुणोंका घात करती हैं। अतः ये घातिया कहलाती हैं।

ततः शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघाति विवक्षया।
गुणानां घातका भावशक्तेरप्यात्मशक्तिमत् ॥१००३॥

अघातिया कर्मोंका कर्मत्व—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये चार कर्म अघातिया कहलाते हैं। घातियाका काम था गुणोंका घात करना। जैसे ज्ञानावरण जीवके ज्ञानगुणका घात करता है, दर्शनावरण कर्म दर्शनगुणका घात करता है, मोहनीय कर्म सम्यक्त्वका, चारित्र का, आनन्दका घात करता है। अन्तराय कर्म आत्मशक्तिका घात करता है और ये अघातिया कर्म जीवके गुणोंका साक्षात् घात तो नहीं करते, लेकिन घातिया कर्मको जीवगुणोंका घात करनेमें सहूलियत मिले, इसमें सहयोग देता है अघातिया। जैसे दो बच्चे लड़ रहे हों और एक कोई तीसरा आदमी जिसकी एक बच्चेपर प्रीति हो वह आकर बीच-बिचौनिया करे तो इस तरह करे कि दूसरे बच्चेको हाथसे पकड़ ले। पकड़ ले तो उस बच्चोंको मारनेमें कितनी सुविधा मिलेगी? तो यद्यपि उस दूसरे आदमीने बच्चेको सीधा नहीं मारा, लेकिन उस मारने वालेको मदद कितनी अधिक मिल गई? ऐसे ही ये अघातिया कर्म सीधे जीवके गुणका घात नहीं करते, लेकिन इनका ऐसा काम है कि उन घातिया कर्मोंको मदद मिलती है अपना काम करनेमें। नामकर्मके उदयसे शरीरकी रचना हुई तो लो बस सारी आफत लग गई। इस जीवके लिए शरीर ही आफत है। जिस शरीरको देखकर लोग हाले-फूले फिरते हैं, बड़ा हर्ष मानते हैं, सब ऐबोंकी जड़ यह शरीर है। तो नामकर्मने शरीररचना कर ली। गोत्रकर्मने ऊँच-नीच कुलका विभाग बना लिया। तो अब देखो—दुःखी होनेका कारण ही तो बन गया। हालाँकि नीच कुल होनेसे कोई दुःख नहीं, मगर मोहनीय कर्मका उदय है तो दुःख तो मानेगा ही। तो यह अघातिया कर्म जीवके गुणोंका साक्षात् घात तो नहीं करता, किन्तु उनको मदद करता है, फिर भी यह नहीं कि अघातिया कर्म कोई नुक्सान न पहुंचाता हो। अघातिया कर्म यद्यपि अनुजीवी गुणोंका घात नहीं करते, लेकिन प्रतिजीवी गुणोंका तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

घात कर रहे। तो किसी रूपमें जीवकी बरबादी कर रहे हैं, इसलिए इनका नाम कर्म कहलाया। देखो जीवकी स्वाभाविक स्थिति है यह कि वह सूक्ष्म रहे। किसी भी तरह किसीके बिगाड़में न आये, लेकिन यहाँ तो किसीके शरीरको जकड़ लो, निरोधमें आ गये, विकल्पमें आ गए। हाथ पकड़कर कहीं फेंक दे, जीवकी ऐसी दशा होने लगी, भला बतलाओ कैसा अमूर्त सूक्ष्म जीव और उसकी यह हालत बन रही। लोग तो आँखों देखकर बोल देते हैं कि यह है जीव। तो इतने सूक्ष्म जीवकी जो यह दिशा बनी है वह अघातिया कर्मसे ही तो बनी है। बतलाओ अघातिया कर्म भी कोई गरीब कर्म नहीं है। यह भी इस जीवकी बरबादीमें पूरा हाथ दे रहा। दूसरी बात—और भी सोच लो। अघातिया कर्म जब तक रहता है तब तक अरहंत भगवानको मुक्ति नहीं मिलती। अघातिया कर्म एक साथ नष्ट होते हैं, तब शरीर रहित होकर अरहंतदेव सिद्धप्रभु बनते हैं। तो अघातिया कर्मने देखो मुक्ति भी रोक दी, तो अघातिया कर्म जीवगुणका साक्षात् घात न करे तो भी आत्माकी क्षति करता है।

एवमर्थवशान्नूनं सन्त्यनेके गुणाश्चितः।
गत्यन्तरात्स्यात्कर्मत्वं चेतनावरणं किल ॥१००४॥

चेतनावरण कर्मकी दृष्टि—कोई निर्धारण कर सकता है कि आत्मामें कितने गुण हैं? जब जैसी दृष्टि बने तब उस प्रकारके उत्तर आयेंगे। देखो—कर्म ८ होते हैं। तो उन आठों कर्मोंकी संख्यासे हम यह निर्णय कर लेते हैं कि जीवमें ८ गुण हैं—४ अनुजीवी, ४ प्रतिजीवी। उन गुणोंका घात करने वाले ८ कर्म हैं। ८ कर्मोंका जब हम नाम सुनें तो हम जीवके कितने गुणोंको सोचते हैं? आठ। और जब कहते कि कर्मके भेद १४८ हैं तो हम गुण कितने सोचेंगे?…१४८। उतनेका घात किया। कर्ममें भेद असंख्यात हैं। तो गुण कितने समझे जावेंगे?…असंख्यात। और जब यह कहा जायगा कि कर्म तो एक है, चेतनामात्र। जो इस चेतनका आवरण करे उसका नाम है चेतनावरण। तो गुण कितने समझें? एक चेतन। लो प्रयोजनके वशसे इस चेतन जीवके अनेक गुण होते हैं, और इनमें यदि ज्ञान, दर्शन दो को एक चेतनागुण माना जाय तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण ये दोनोंके दोनों चेतनावरणमें आ जाते हैं, फिर ज्ञानावरण और दर्शनावरण अलग-अलग माननेकी जरूरत न रही। तो ये कर्म तो जो हैं सो ही हैं और उन कर्मोंके विपाकमें जो निमित्तनैमित्तिक योगमें कार्य होता है सो होता है। अब उसका विभागीकरण करना यह अपनी दृष्टिके अनुसार किया जा सकता है।

दर्शनावरणोप्येष क्रमो ज्ञेयोस्ति कर्मणि।
आवृतेरविशेषाद्वा चिद्गुणस्यानतिक्रमात् ॥१००५॥

दर्शनावरणका कर्मत्व—जैसे ज्ञानावरण कर्म ज्ञानका आवरण करता है, विकास रोकता है, सो वह ज्ञानावरण है भेदविवक्षामें। ज्ञानदर्शनको एक चेतना गुण मानकर चेतना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

का जो आवरण करता है वह चेतनावरण है। इसी तरह दर्शनगुणको एक स्थापित करके फिर सोचा जाय कि दर्शन गुणका जो आवरण करे सो दर्शनावरण है। इस तरह आत्माके दर्शन गुणका घात करने वाले कर्मका नाम है दर्शनावरण। देखो—अनुभवसे विचारो—आत्मामें दो प्रकारकी प्रकृति हैं—स्वभाव है, जानना और जानते हुए खुदको भी प्रतिभास लेना। ये दो बातें बराबर चलती हैं प्रत्येक जीवमें। अनेक पदार्थोंको जान लेना और जानते हुएको प्रतिभासना। यदि इन दो बातोंमें एक बात हो तो दूसरी बात भी नहीं ठहरती। कोई कहे कि आत्मामें सिर्फ बाहरी पदार्थको जानने जाननेकी ही आदत है। दर्शन नहीं है, उस जाननहार को प्रतिभासनेकी प्रकृति नहीं है तो उसमें जाननेकी भी प्रकृति न होगी और कोई कहे कि आत्मामें तो केवल अपने आपको प्रतिभासनेकी प्रकृति है, परको जाननेकी नहीं है तो वहाँ स्वप्रतिभासकी बात नहीं बन सकती या दर्शनकी बात नहीं बन सकती। एक मोटा दृष्टान्त ले लो। एक दर्पणमें बाहरी पदार्थको झलकानेकी सामर्थ्य है ना, और दर्पणमें खुदको भी झलकानेकी सामर्थ्य है कि नहीं। अब कोई कहे कि दर्पणमें खुदको झलकानेकी कोई कला नहीं है तो देखो भींत और बैन्चमें भी खुदको झलकानेकी कला नहीं है वहाँ बाहरी तत्त्व तो नहीं झलक सकते। यों दर्पणमें भी स्वझलक न माननेपर बाहरी प्रतिबिम्ब नहीं आ सकेगा। और कोई कहे कि दर्पणमें खुदको झलकानेकी सामर्थ्य है, मगर बाहरी प्रतिबिम्बको झलकाने की सामर्थ्य नहीं है। तो खुदकी झलक भी सिद्ध नहीं हो सकती। इसी तरह आत्मामें खुदकी झलक, परकी झलक ये दोनों साथ दे रहे हैं। आत्मामें ज्ञानगुण भी है, दर्शनगुण भी है। जो ज्ञानगुणका घात करे सो ज्ञानावरण और जो दर्शनावरणका घात करे सो दर्शनावरण।

एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः।
तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते ॥१००६॥

दर्शनमोहनीयका घाति कर्मत्व—ज्ञानावरण और दर्शनावरणका विवेचन करनेके बाद मोहनीय कर्मका विवेचन किया जा रहा है। जैसे ज्ञान और दर्शन आत्माके गुण हैं, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी, सम्यक्त्व भी आत्माका गुण है। उस सम्यक्त्वको जो मूर्छित कर दे उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं। दर्शनको जो मोहित कर दे, बेहोश कर दे उसे दर्शनमोहनीय कहते हैं। मोहित करनेका अर्थ है बेहोश करना। जैसे पुराणोंमें कथा आती है कि सीता के चित्रने भामण्डलको मोहित किया, तो इसका अर्थ है कि भामण्डलको बेहोश कर दिया, बेवकूफ कर दिया। मोहित करनेके मायने हैं बेवकूफ कर देना। उसकी बुद्धि व्यवस्थित न रहे। तो जब दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होता है तो इस जीवकी स्वच्छता, सम्यक्त्व मूर्छित हो जाता है। सर्वकर्मोंमें विकट कर्म दर्शनमोहनीय कर्म है। सम्यक्त्व गुणकी ६ अवस्थायें होती हैं—(१) औपशमिक सम्यक्त्व, (२) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (३) क्षायिक सम्यक्त्व।

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह तो हुई शुद्ध अवस्था और जब विपरीत परिणमता है सम्यक्त्वगुण, तो मिथ्यात्वरूप परिणमता है यह चौथी स्थिति है। सम्यग्मिथ्यात्वमें मिश्रपरिणति है यह ५वीं स्थिति है। सम्यक्त्व मिट गया, मिथ्यात्व न आ पाया, वहाँ जो सम्यक्त्व गुणकी स्थिति है, उसका नाम है सासादन। यह छठी स्थिति है। तो दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होनेपर मिथ्यात्वभाव होता है और यदि उसमें सम्यग्मिथ्यात्वका उदय हो तो सम्यग्मिथ्यात्व होता है, तो यह दर्शनमोहनीय सम्यक्त्व गुणका घात करता है इसलिए घातिया कहा जाता है।

नैतत्कर्मापि तत्तुल्यमन्तर्भावीति न क्वचित्।
तद्द्वयावरणादेतदस्ति जात्यन्तरं यतः ॥१००७॥

दर्शनमोहनीयकर्मकी जात्यन्तरता—यहाँ कोई ऐसी जिज्ञासा करे कि अभी-अभी बताया था कि ज्ञान और दर्शन एक चेतना गुणमें गर्भित हो जाते हैं, इसलिए चेतनावरण कर्म कह देना ही पर्याप्त है। तो क्या इस तरह दर्शनमोहनीयका भी किसीमें अन्तर्भाव हो सकता याने सम्यक्त्व गुणका किसी गुणमें अन्तर्भाव हो जाय तो दर्शनमोहनीयको अलगसे कहनेकी जरूरत न रहेगी। क्या इस तरह दर्शनमोहनीय कर्म किसी कर्ममें अन्तर्भूत हो सकता है? उसका समाधान दिया है कि दर्शनमोहनीय कर्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण—इन दोनोंसे जुदा है। ज्ञानगुण, दर्शनगुण इन दोनों गुणोंसे सम्यक्त्व गुण जुदा है। ये गुण जुदे-जुदे हैं, यह पहिचान कैसे हो सकती है? उनकी परिणति देखकर, उनका कार्य समझकर। ज्ञानका काम तो जानना है, दर्शनका काम है जाननका प्रतिभास करना और सम्यक्त्वका काम है स्वच्छता। जिसका कार्य उपचारसे बताया जाता। सम्यग्दर्शन गुण अवक्तव्य है। उसका सही लक्षण, सही स्वरूप किसी शब्दमें नहीं बताया जा सकता, लेकिन कहनेकी पद्धति यह है कि जिसके होनेपर यथार्थ प्रतीति बने, आत्मरुचि बने, प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट हों, अनुभूति जगे उसे सम्यक्त्वगुण कहते हैं, पर ये सब स्वयं सम्यक्त्व नहीं हैं। न स्वानुभूतिको सम्यक्त्व कहते हैं, न प्रतीति, रुचि, विश्वास, श्रद्धान् किसीका नाम सम्यक्त्व है, किन्तु जिस गुणके प्रकट होनेपर ये बातें आयें उसे सम्यक्त्व गुण कहते हैं, क्योंकि जितने भी लक्षण कहे गए हैं सम्यग्दर्शनके वे सब लक्षण और-और गुणकी परिणतियां हैं। तो ऐसा वह स्वच्छता नामका गुण वह सम्यक्त्व गुण ज्ञान और दर्शन गुणसे निराला है, तो सम्यक्त्वका घातने वाला दर्शनमोहनीय कर्म भी निराला है।

ततः सिद्धं यथा ज्ञानं जीवस्यैको गुणः स्वतः।
सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्यैको गुण स्वतः ॥१००८॥

ज्ञानदर्शनकी भांति सम्यक्त्वकी भी गुणरूपता—उक्त कुछ वक्तव्योंका सारांश यह है कि जिस प्रकार जीवका ज्ञानगुण एक स्वतःसिद्ध है उसे किसीने बनाया नहीं है, जीवमें अनादि से सहज है उसका घात हो रहा है, यह स्थिति चल रही है, लेकिन जीवमें जो यह गुण है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वह सहज और स्वतःसिद्ध है। इसी प्रकार सम्यक्त्व गुण भी जीवमें स्वतःसिद्ध सहज गुण है। यद्यपि अनादिकालसे सम्यक्त्व गुण कभी अपनी शुद्ध दशामें नहीं आया, यह जीव मोही बना रहा, मिथ्यात्वी बना रहा, फिर भी गुण तो सम्यक्त्व अनादिसे ही माना जायगा। किसका विपरीत परिणमन है, यह तो कहना ही पड़ेगा, अन्यथा मिथ्यात्व स्वभाव बन बैठेगा। जीवमें सम्यक्त्व गुण है, सहज है, स्वतःसिद्ध है और उसका विपरीत परिणमन है मिथ्यात्व। तो ज्ञानादिक गुणोंकी भाँति जीवमें सम्यक्त्व गुण भी सहज और स्वतःसिद्ध है। तो जब सम्यक्त्व गुण सहज स्वतःसिद्ध हो तो उससे क्या निष्कर्ष निकलेगा ?

पृथगुद्देश एवास्य पृथक् लक्ष्यं च लक्षणम् ।
पृथग्दृङ्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात् ॥१००६॥

दर्शनमोहनीयकर्मकी अन्य कर्ममें अनन्तर्भावता—सम्यक्त्व गुण जब पृथक् है, उसका स्वरूप निराला है, भिन्न लक्ष्य है, भिन्न लक्षण है याने ज्ञानसे जुदा है और ज्ञानके लक्षणसे जुदा लक्षण है, उसका सब दर्शनमोहनीय कर्म भी जुदा लक्षण वाला है। इस कर्मका किसी कर्ममें अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। किसी भी नयसे दर्शनमोहनीय कर्मको किसीमें शामिल नहीं कर सकते। यों समझ लो—जैसे कोई सवारी चलती है—मानो जहाज चला तो उसके चल सकनेमें एक दिशा-प्रदर्शक होना चाहिए—चाहे वह नक्शों द्वारा हो, लाइट लगी हो या बड़ा डंडा गड़ा हो। दिशा प्रदर्शन हुए बिना जहाजका चलना नहीं बनाया जा सकता। पानी के जहाजका चलना देख लो—उसमें भी दिशाप्रदर्शनके संकेत रहते हैं। किस ओर ले जाना है जहाजको और ज्ञान भी हो सब बातोंका और उसे चलाये भी तो अपने लक्ष्यपर पहुंचता है। इसी तरह जो हमारे लिए दिशाप्रदर्शनकी बात है वह मिलता है सम्यग्दर्शनसे। इनसे चलना नहीं होता, चलना होता है सम्यक्चारित्रसे। मोक्षमार्गमें चलना, बढ़ना, पर दिशाप्रदर्शन न हो तो चलनेका काम नहीं बन सकता। चलेगा तो उल्टा चलेगा, खतरा होगा, धोखा खायगा। जब कभी स्टेशनोंका फोन खराब हो जाता है, बीचके तार टूट जाते हैं तब गाड़ी आगे नहीं चलती। बीचमें ही किसी स्टेशनपर रोक दी जाती है। और कभी कोई ऐसा ही समय आ जाय और बहुत देर हो जाय तो इंजन वाला दयालु हो तो खुद खतरा मोल लेकर गाड़ीको स्टेशनपर छोड़कर खाली इंजन आगेके स्टेशन तक ले जाता है। वहां स्टेशनमास्टरसे लिखा लेगा कि कोई गाड़ी नहीं आ रही है, न आवेगी तब वह इंजनको वापिस लाकर गाड़ीको जोड़-कर ले जाता है, तो यह दिशाप्रदर्शनकी, लाइन क्लियरका साधन न रहे तो कोई काम नहीं बन सकता। तो चलनेमें दिशाप्रदर्शनकी बात कितनी सहायक है ? सम्यग्दर्शन ऐसा ही दिशा-प्रदर्शन करता है। यहाँ चलो, यहाँ रमो, यही स्वच्छता है, यही हित है, बाहरमें सर्वत्र तेरी बरबादी है। इस सम्यक्त्वको ही माता-पिता, गुरु अथवा रक्षक सभी कुछ कह सकते हो।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस भूले-भटके जीवका सहारा यही एक सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वके कारण ही यह समझ बैठती है कि किसी भी बाह्यपदार्थमें सारपनेका विश्वास न करें, किसीसे भी अपना हित न समझें। तुम स्वयं एक स्वच्छ ज्ञानज्योतिस्वरूप हो। अपने आपमें रमो, बैठो, ऊधम न करो। आराम से बैठ जावो—यह उपदेश हमें यह सम्यक्त्व देता है। कुछ लहर उठना, कुछ तरंग चलाना, विकल्प करना, चुलबुल मचाना यह सब ऊधम है, पर मोही मोही जहां सारे ऊधम मचा रहे हों तो फिर कौन किसे ऊधमी कहे? सत्य तो इतना है कि जितना यह ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व है। बस जो है सो है। यह दिशा बताता है हमें सम्यक्त्व। ऐसे सम्यक्त्व गुणका जो घात करता है उसे कहते हैं दर्शनमोहनीय कर्म। अब मोहनीय कर्मके भेदोंमें एक है चारित्र मोहनोयकर्म उसका समाचार सुनिये—

एवं जीवस्य चारित्रं गुणोस्त्येकः प्रमाणसात्।
तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याच्चारित्रमोहनम् ॥१०१०॥

चारित्रमोहनीयका कर्मत्व—जीवमें एक चारित्रगुण भी है जो प्रमाणसिद्ध है। चारित्र का काम क्या है? रमाना। यदि यह क्रोधमें रमता है, लोभमें रमता है, घर-द्वार आदिकका आश्रय करके अपने इस विभावमें रमता है तो चारित्रका ही तो काम है यह कि रमा देना। खोटी जगह रमे तो रम जाए, उसका काम तो है रमाना। जब तक खोटी जगह रमेगा तब तक दुःख पायगा। सम्यक्त्व गुण हो तो यह अच्छी जगह रमेगा, तब इसका नाम सम्यक्चारित्र कहलाया। यों समझिये—सूझ, बूझ, रीझ। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। सूझ हो गयी, आत्माके मोक्षमार्गकी सूझ हो गयी, सम्यग्दर्शन हो गया, अन्तस्तत्त्वकी बूझ बन गई, बोध हो गया, सम्यग्ज्ञान हो गया और इस अन्तस्तत्त्वपर, इस गुणपिण्डपर रीझ गया तो सम्यक्चारित्र हो गया। रीझ जावो। कोई एकदम रीझ गया तो वह सम्यक्चारित्रमें बहुत बढ़ा हुआ है। रम गया तो सूझ, बूझ, रीझ—इन तीनोंके बिना कोई काम कर ही नहीं सकता। चाहे व्यापारका काम हो, भोजनका काम हो, तो उसमें सूझ भी है, बूझ भी है, रीझ भी है अन्यथा ये कोई काम नहीं किए जा सकते। तो इसी तरह आत्मधर्मका पूर्ण विकास होना, यह एक काम है। ऐसा काम करनेके लिए उसके अनुरूप इतनी सूझ, बूझ, रीझ होनी चाहिए। तो रीझका जो आवरण करे, विपरीत करे उसका नाम है चारित्रमोहनीय। चल नहीं सकता, आत्मामें रम नहीं सकता, कषायोंसे निवृत्त नहीं हो पाती, विषयोंको छोड़ नहीं सकता, ऐसी स्थिति कर सकेगा चारित्रमोह। तो चारित्र नामका भी गुण है ज्ञान दर्शन और सम्यक्त्वकी तरह। उस चारित्र गुणको जो कर्म मूर्छित करता है उस कर्मका नाम है चारित्रमोहनीय। किसी कारखानेमें मशीन चलती है तो एकका काम इतना, दूसरेका काम इतना, तीसरेका काम इतना, यों सारे काम कर रहे, कोई चीज बन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

रही । अपने-अपने नम्बरपर उनका काम हो रहा है । तो मोक्ष जानेके लिए सम्यग्दर्शनका काम है । विपरीत अभिप्रायको दूर कर देना, लाइन क्लियर कर देना, इस उपयोगमें विषय कषायकी गाड़ियाँ न चलें, ऐसा यह उपयोग साफ रहे, यह काम किया सम्यग्दर्शनने । और सम्यग्ज्ञान तो सदा चल ही रहा है और फिर उसपर जम गए, उसपर चलने लगे तो यह हुआ सम्यग्चारित्रका काम । तो इसमें जो चारित्र नामक गुण है उसकी शुद्ध बात न होने देवे, ऐसा जिस कर्मके विपाकमें बने उसका नाम है चारित्रमोहनीय कर्म ।

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोस्येकस्तदादिवत् ।
तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत् ॥१०११॥

जीवमें वीर्यनामक गुण और इसका अन्तरायक कर्म—जीवमें गुण हैं और उन गुणों के घातने वाले कर्म हैं, इन दोनोंका अस्तित्व सिद्ध किया जा रहा है । अब तक ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और चारित्र–इन ४ गुणोंकी बात कही गई है, और ज्ञानको ढकने वाला ज्ञानावरण, दर्शनको ढकने वाला दर्शनावरण कर्म, सम्यक्त्वका निरोध करने वाला दर्शनमोहनीय और चारित्रका निरोध करने वाला चारित्रमोहनीय, इस प्रकार ३ कर्मोंका वर्णन किया गया था । अब इस श्लोकमें अन्तराय कर्मकी बात कही जा रही है । ज्ञानगुणकी भाँति जीवके वीर्य नाम का भी गुण है याने आत्मामें शक्ति है । प्रत्येक पदार्थमें शक्ति होती है और आत्माकी तो अद्भुत शक्ति है । भला समस्त लोकालोकको जान जाय ऐसी शक्ति अन्य किस द्रव्यमें है ? इसी कारण सब द्रव्योंका राजा जीवको बताया गया है । जीव सबमें प्रधान है । समयसारमें जहाँ समयसार शब्दकी व्याख्या की है, सर्वप्रथम यह बताया है कि समयके मायने हैं समस्त पदार्थ– जो समस्त अपनी गुण पर्यायोंको पाये उसे कहते हैं समय । प्रत्येक पदार्थमें गुण और पर्याय होती हैं । सभी समय हैं और उन समयोंमें याने समस्त द्रव्योंमें जो सार है याने जीव उसका नाम है समयसार और समयसारमें भी जो सार है उसका नाम है समयसारसार । लेकिन दो बार सार शब्दका प्रयोग नहीं होता । तो समयसारका अर्थ है शुद्ध जीव । तो जहाँ समयसार की व्याख्या की है वहाँ यह बताया है कि सर्वद्रव्योंमें सार है तो जीव है । जीवकी शक्ति भी अद्भुत है । इस जीवके वीर्य नामका गुण है । सो अन्तराय कर्म वीर्यगुणको अंतरित करता है, उसपर अंतराय डालता है, उसे प्रकट नहीं होने देता ।

आत्मशक्तिका प्रदर्शन—शरीरमें जो शक्ति दिखती है लोकमें उसका तो सबको पता है । बैलमें इतनी शक्ति है, घोड़ामें इतनी शक्ति है, भैंसामें इतनी शक्ति है, पुरुषमें इतनी शक्ति है, पर यह जो शरीरमें शक्ति आयी सो यों ही मुफ्त आ गई क्या ? शरीरके नाते, पुद्गलपिण्डके नाते क्या ऐसी ही शक्ति आ गई ? यह शक्ति क्या है ? यह आत्माकी शक्तिका बिगड़ा रूप है और इस रूपमें प्रकट हो गया है । सबसे अधिक शक्ति किसमें पायी जाती है ?

http://sahjanandvarnishastra.org/

अब जीवोंमें अंदाज करो—क्या कहेंगे कि घोड़ेमें शक्ति अधिक है और भैंसामें उससे अधिक, हाथीमें उससे अधिक। किसमें शक्ति अधिक है बतलाओ ? संसारी देहधारी पुरुषोंकी बात कह रहे हैं। इन्द्रमें इतनी शक्ति है कि वह कुछसे कुछ भी अनहोना काम कर दें। लेकिन सबसे बड़ी शक्ति है मनुष्यमें। शरीरकी शक्तिकी बात कह रहे हैं। भगवानमें तो अन्य प्रकार की ही अद्‌भुत व अनन्त शक्ति है। तीर्थंकर जब गृहस्थावस्थामें रहते हैं उनकी शक्तिका अन्दाज बताया है कि कितनी बड़ी शक्ति है ? तो शक्तिका अंदाज लगावो। बकरासे शुरू करो। बकरेमें जितनी शक्ति है, बीसों बकरे बराबर शक्ति एक गधेमें है, बीसों गधे बराबर शक्ति एक भैंसामें है और अनेक भैंसोंकी शक्ति बराबर शक्ति एक हाथीमें है। अनेक हाथियोंकी शक्ति बराबर शक्ति एक शेरमें है। अनेकों शेरोंके बराबर ताकत एक अर्धचक्रीमें है, उससे अधिक चक्रीमें है, उनसे अधिक देवमें है, अनेकों देवों बराबर शक्ति एक इंद्र में है, और अनेकों इन्द्रोंके बराबर शक्ति तीर्थंकर महाराजकी एक अंगुलीमें होती है। मनुष्योंकी शक्तिका कोई लेखा नहीं है। कोई कायर इतना कमजोर हो सकता है कि उसे एक चूहा भी ढकेल दे, बिल्ली भी ढकेल दे और बलवान इतना हो सकता है कि एक ही पुरुषमें करोड़ों सुभट जितनी शक्ति बतायी गई है। तो जो यह शरीरमें शक्ति प्रकट हुई है यह किसका प्रताप है ? आत्मशक्तिका प्रताप है। तो ऐसा आत्मामें एक अद्‌भुत वीर्यगुण है, और अपनी सही हालतमें आ जाय तो अनन्त ज्ञान बने।

परमात्मत्व शक्ति और उसका विलोप—अब आप एक जिज्ञासा कर सकते हैं कि भगवानने अनन्तशक्तिका काम क्या ? अरे उसका अगर हजारवाँ हिस्सा भी शक्ति हम लोगों को मिले तब तो हम दुनियामें कुछ कर्तव्य करके दिखलायें। भगवानके अनन्तशक्तिका क्या मतलब ? अच्छा, अब सुनो, हँसी बन्द करो। भगवानमें ज्ञानगुण है ना। वे तीनों लोकालोक का सर्व कुछ जान जायें और दर्शन इतना अनन्त है कि उतने जाने हुएको प्रतिभास ले। तो हमारे अनन्त ज्ञानको बनानेमें सामर्थ्य कितनी चाहिए ?....अनन्त। और अपना ज्ञान, अपना स्वरूप अपने आपमें रह सके, अपने स्वरूपको अपने आपमें डाटनेका सामर्थ्य तो एक अद्‌भुत सामर्थ्य होता है। जिसे लोग समझते हैं वीरता वह है कायरता। दूसरोंको सताना, दूसरोंका काम बना देना अथवा बड़े-बड़े चमत्कार बताना, बड़े युद्ध जीतना, इन सबको लोग वीरता कहते हैं, मगर यह सब कायरता है अध्यात्मदृष्टिमें। आत्मा अपने ज्ञानको अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थिरतासे रमा सके, वास्तविक वीरता है यह, और अपने स्वरूपसे चिगे, बाहरी पदार्थोंमें कुछ भी विकल्प करे तो वह है इस जीवकी कायरता। तो अपने ज्ञानको अपने ज्ञानस्वरूपमें समाने के लिए अद्‌भुत बल चाहिए। वीर्यका ऐसा सामर्थ्य है। ऐसे वीर्यगुणको जो कर्म दबा दे, प्रकट न होने दे उसे अन्तरायकर्म कहते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

एतावदत्र तात्पर्यं यथा ज्ञानं गुणश्चितः ।
तथाऽनन्ता गुणा ज्ञेया युक्तिस्वानुभवागमात् ॥१०१२॥

आत्माके अनन्त गुण और उनमें ज्ञानगुणकी प्रधानता—यहाँ तात्पर्य इतना लेना कि देखो बतला रहे हैं आत्मामें अनेक गुण। जैसे कि चेतनका ज्ञानगुण बताया है उसी प्रकार चेतनमें अनन्त गुण भी हैं। जो युक्तिसे स्वानुभवसे, आगमसे जाना जाता है। अभी जिन गुणोंका वर्णन किया है उन गुणोंमें कोई संदेह तो नहीं है। बराबर है यह गुण। अनुभव बतलाता है, युक्ति बतलाती है, आगम भी कहता है। विश्वास करनेका सब जीवोंमें माद्दा है और किसी न किसी ओर रमनेकी सब जीवोंमें आदत है और जो जिसमें रमे उसी को कहते हैं पूजा, उसकी पूजा, उसकी भक्ति, उसकी उपासना। जैसे कोई कहे कि भगवान की उपासना करो तो उसका अर्थ कितना लेना कि भगवानका जो स्वरूप है उस स्वरूपमें रमो, रुचि करो, उसके दीवाने बनो, उसमें लीन हो जावो, भगवानकी पूजा करो। उसका अर्थ यह न लेना कि बर्तन खड़भड़ाना, हाथ चलाना, घंटा बजाना आदिक भगवान की पूजा है। अरे यह तो उसने अपना मन लगानेका साधन बनाया है। अब आप देख लो यहाँ सभी लोग किसी न किसीकी पूजा कर रहे हैं। कोई धनकी पूजा करता, कोई स्त्रीकी पूजा करता, कोई पुत्रकी पूजा करता, कोई भगवानकी पूजा करता, कोई अपने ज्ञानको पूजा करता। पूजा तो सभी लोग कर रहे हैं पर जिसने जिस ओर अपनी रुचि लगाया है, अपना लगाव लगाया है वह उसकी पूजा कर रहा है। तो मालूम होता है कि कहीं न कहीं रमनेका माद्दा इस आत्मामें है। यही हुआ चारित्रगुण। आनन्दगुण भी विकृत होता है तो ऐसे अनन्तगुण हैं जो युक्ति स्वानुभव और आगमसे पहिचान लिए जाते हैं। किन्तु यहाँ यह बात विशेष जानना कि सब गुणोंमें मुख्य गुण है ज्ञान।

आधार और करण बनकर ज्ञानगुणका स्वानुभवमें वरद हस्त—जब स्वानुभव करनेको कोई पुरुष चले तो उसे अपनेको ज्ञानमात्र सोचना पड़ेगा। अनुभवका सुगम रास्ता बतला रहे हैं। अपने को केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप अनुभव करो। यह मैं सबसे निराला हूं, और यह मैं पूरा हूं। मेरेमें कोई काम ही नहीं है। मेरेको कही कुछ करना ही नहीं है। सारा मामला तैयार है। मैं ज्ञानमय हूं, पूर्ण हूं। अपनेमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किया करता हूं। मेरेको अब तकलीफ क्या है? मेरेको कष्ट क्या है? काम क्या है? विकल्प क्यों है? केवल ज्ञानमात्र अपने आपको देखो तो यह ज्ञान जो उपयोग रूप चल रहा है ज्ञानस्वरूपमें मग्न होगा, एकरस बनेगा, जिसे कहेंगे स्वरूपाचरण जैसी स्थिति बनेगी। बस वही है स्वानुभवकी एक सुदृढ़ स्थिति। तो किसका उपकार हुआ यह सब? इस ज्ञानगुणका। ज्ञान ही भगवान है, ज्ञान ही गुरु है, ज्ञान ही परमपिता है, ज्ञान ही परमेश्वर है, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, बस ज्ञानस्वरूपकी आराधना करो, ज्ञानस्वरूप अपने आपको मानो, अपनेमें लीन रहो। कुछ परवाह नहीं, जो होता हो होने दो बाहरमें। जिसका जो परिणमन है, हो रहा है, तुम उसमें शामिल मत हो, निराले रहो। केवल ज्ञानमात्र अनुभव करो। ज्ञानानुभवका ही नाम स्वानुभव है। स्वानुभव और कुछ नहीं है। तो ज्ञानगुणका कितना उपकार है इस जीवपर ? ज्ञानके द्वारा यह उपकार करता है। ज्ञानका आश्रय लेकर उपकार करता है। ज्ञानके आधार में उपकार करता है उपकार करने वाला ज्ञान और अपने आश्रयसे हो रहा है उपकार, इस-लिए उपकारका आश्रय है ज्ञान। सर्व कुछ ज्ञानकी कृपा है। तो सर्व गुणोंमें प्रधान गुण है ज्ञानगुण।

ज्ञानगुण व ज्ञानातिरिक्त अन्य गुण व उनके घातक कर्मोंके परिचयका प्रसङ्ग— ज्ञानगुणको ज्ञानमयी मुद्रा है, आकार है, समझ है, बता सकते हैं, पर ज्ञानगुणको छोड़कर शेष जो आत्मामें गुण हैं उनकी न मुद्रा बता सकते, न आकार बता सकते, न समझा सकते। और हैं अनन्तगुण आत्मामें। मगर उनका परिचय ज्ञान द्वारा ही होता है। अपनेको ज्ञानमात्र मानना, इतना तक स्वीकार कर लें तो अपने आपपर बड़ी दया होगी। मैं मनुष्य भी नहीं हूं। क्रोध, मान, माया, लोभ तो मेरे हैं क्या ? जो तर्क विचार उठते हैं, कल्पनायें उठती हैं वे भी मैं नहीं हूं। यह सब कर्मका नाच है, कर्मकी तरंग है। कर्म उदयमें आये, तब ऐसी तरंगें उठती हैं। मैं केवल ज्ञानमात्र हूं। केवल ज्ञानस्वरूप अपनेको अनुभवो और कहीं डोलो। बाजारमें रहो, घरमें रहो, मन्दिरमें रहो, तुम स्वरक्षित हो। तुमपर न गोले बरसेंगे, न लाठी चलेगी, न नुक्सान होगा, न वियोग होगा, न अनिष्टसंयोग है, न वेदना है, न सताना है, न तड़फन है, एक ज्ञानमात्र अपनेको अनुभवमें लावो। तो इस जीवमें सर्वगुणोंमें प्रधान है ज्ञानगुण। ज्ञानके बिना अन्य सब गुण सत्ता मात्रसे लगते हैं, एक बेकार जैसे ? क्या करते ? इसलिए विदित होता है कि सर्वगुणोंमें ज्ञानगुण प्रधान है। तो जैसे ज्ञानगुण भली-भांति समझमें आ रहा है, इस तरहसे अनन्त गुण भी इस आत्मामें पाये जाते हैं। जिसे भली प्रकार परख करियेगा और जितने गुणमें हैं आत्मामें उनको आवरण करने वाले, बिगाड़ने वाले उतने ही कर्म हैं। यहाँ औपाधिक भावोंका प्रकरण चल रहा है। जहाँ यह जानना आवश्यक था कि किन कर्मोंमें उदयसे कौनसे भाव होते हैं, जिन्हें औदयिक भाव कहा गया है। उस सिलसिलेमें यहाँ घातिया कर्मके वर्णनके प्रसंगमें गुणोंका वर्णन करना आवश्यक हुआ और उन गुणोंको घातने वाले कर्मका भी निर्देश करना आवश्यक हुआ।

न गुणः कोपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित्।
नाधारोपि च नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥१०१३॥

वस्तुकी अनन्तगुणमयताका रहस्य—आत्मामें अनन्त गुण कहे गए हैं। क्या वे गुण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

इस प्रकार हैं कि कोई एक आत्मा है और उसमें अनंत गुण भरे हैं ? नहीं, किन्तु प्रत्येक गुणमय आत्मा है और एक गुणके द्वारा आत्माको कहेंगे तो सारा आत्मा ज्ञानमें आ जाता है। कहीं ऐसा नहीं है कि एक गुणकी बात बोले तो आत्माके अनन्त गुण छूट गए, और एक अधूरा आत्मा ज्ञानमें आया। जो आत्माके स्वरूपका रहस्य जानता है वह इस बातसे भलीभाँति परिचित है कि आत्माकी एक शक्तिमुखेन भी यदि दृष्टि की जाय तो उसमें समस्त आत्मा दृष्टिमें आता है। इसका कारण यह है कि गुणोमयी आत्मा है, एक वैशेषिक दर्शन है। उसका यह सिद्धान्त है कि आत्मा तो एक पदार्थ अलग है और बुद्धि, ज्ञान, संयोग, विभाग आदिक गुण कोई अलग है। फिर यह आत्मा गुणी क्यों कहलाता है और ये बुद्धि आदिक गुण क्यों कहलाते हैं ? तो उसका समाधान दिया है कि आत्मामें बुद्धिका समवाय सम्बंध है। वस्तुके स्वरूपको न समझनेके कारण कितनी कवायद करनी पड़ी दिमागको। गुण अलग है, द्रव्य अलग है, फिर उसका सम्बंध अनादिकालसे है। उसके कारण समवाय सम्बंध है। अरे द्रव्य ही तन्मय है तब ज्ञानगुणके द्वारा आत्माका कथन हुआ। आत्मा ज्ञानमय है। आनंद गुणके द्वारा आत्माका कथन हुआ तो आत्मा आनन्दमय है। तो ये समस्त गुण एक दूसरेमें अन्तर्भूत नहीं हैं, फिर भी ये अलग नहीं, किन्तु एक आत्मस्वरूप है। जब गुणोंके स्वरूपका वर्णन करते हैं तो ज्ञानका काम क्या है ? जानना और श्रद्धान्का काम क्या है ? विश्वास करना। तो क्यों ये दोनों एक हो जायेंगे कि वही ज्ञानका काम, वही श्रद्धान्का काम ? नहीं। स्वरूप न्यारा है। तो क्या ये दो चीजें हैं ? नहीं, दो चीजें नहीं हैं। एक आत्मा ही है। उस आत्माका परिचय करनेके लिए एक विभाग बनाया गया है। दृष्टान्त ले लो—जैसे आग है तो बताओ उसकी कितनी तारीफ हैं ? यह प्रकाश भी करती है, चीजोंको जलाती भी है, रोटियाँ भी पकाती हैं। तो भला उसमें ये तीनों काम क्या अलग-अलग पड़े हुए हैं ? प्रकाश किसी और जगहसे करती हो, जलानेका काम किसी और जगहसे करती हो या रोटियां पकाने का काम किसी और जगहसे करती हो, ऐसा कुछ है क्या ? अरे वह तो अपनी ओरसे जैसी है तैसी है। और उसका कार्य देख करके हम परिचय करते हैं कि यह प्रकाशक है, यह पाचक है और यह दाहक है। ऐसे ही आत्मा तो एक स्वरूप है, एक स्वभाव है, चैतन्यमात्र है, किन्तु इसकी कला, इसकी परिणतिको देख करके बोध होता है कि आत्मामें ज्ञानगुण है, दर्शन है, चारित्र है। तो जब गुणोंके स्वरूपको देखते हैं तो वे गुण परस्पर अन्तर्भूत नहीं होते। ज्ञानमें आनन्द अन्तर्भूत नहीं, आनन्दमें ज्ञान अन्तर्भूत नहीं। आनन्दकी मुद्रा है आल्हाद, ज्ञानकी मुद्रा है जानकारी, ये एक कैसे हो जायेंगे ? लेकिन आत्मतत्त्वको देखो तो सब मामला एक है। वहां आल्हाद अलग नहीं है, जानकारी अलग नहीं है। आत्मा एक है और उसका परिणमन प्रतिसमय एक-एक रहता है।

स्याद्वादका संकेत—यहाँ स्याद्वादकला देखिये—गुण एक भी है, अनेक भी है, एकमेक

भी है, जुदे-जुदे भी हैं। हैं भी, नहीं भी हैं, कैसी स्याद्वादकी दृष्टि है ? इन सब बातोंको परखकर एक जो निर्विकल्प बोधकी बात आती है वह है तत्त्व। "कोई कहे कुछ है नहीं, कोई कहे कुछ है, है और ना के बीचमें जो कुछ है सो है।" वस्तुके ऐसे अन्दरूनी स्वरूपके जो ज्ञाता रुचिया तत्त्वज्ञानी हैं वे हैं अन्तरात्मा, वे हैं महात्मा, जिनका सत्संग ही अनेक पापकर्मोंका विनाश कर सकता है। जो धर्ममूर्ति है, जो धर्मस्वरूप है वह है महान्। ऐसे ये आत्मामें अनन्त गुण हैं। वे परस्परमें अन्तर्भूत नहीं होते। एक गुण दूसरे गुणमें मिल नहीं जाता। स्वरूपको देख रहे हैं। बड़े हैरानीकी बात है कि जो कहा जाता है ऐसा भी नहीं है। फिर कहा क्या जाय ? जैसा कहते हैं वैसा भी नहीं है। धन्य है स्वरूपकी महिमा। उसके देखनेका ही आनन्द है, बोलनेमें आनन्द नहीं। अन्तस्तत्त्व, कारणप्रभु जो घट-घटमें विराजमान है, आनन्द तो उसके देखनेका है, बोलनेका नहीं। देखनेमें तो पूरा आ जाता है, बोलनेमें आता ही नहीं है। आत्मामें जो यह अनन्त गुण सामर्थ्य बताया है वह परस्पर भिन्न है तिसपर भी बात एक द्रव्यरूप ही है। कोई भिन्नताकी बात नहीं है। जो ही प्रदेश एक गुणका है वही प्रदेश सब गुणोंका है। जो ही गुण एक प्रदेशमें है वही गुण सब प्रदेशोंमें है। फिर क्या है ? गुणकी बात क्या ?

निर्गुण ब्रह्मका रहस्य—वस्तुमें यह सब गुण वर्णन परिचयके लिए कहा गया है, भेद किया गया है। भेद करके बढ़ा दिया यही गुणका काम है। गुणका अर्थ ही यह है कि बड़े विस्तार बना देना, गुणा कर देना, विशेष कर देना, अनेक कर देना। ऐसा यह अन्तस्तत्त्व गुणमय है, ऐसा कुछ ध्यानमें तो आया, पर कुछ और गहरी दृष्टि की तो समझमें आया कि ब्रह्म निर्गुण है। तब ही अनेक दार्शनिकोंने परमेश्वरको निर्गुण मानकर उसकी बड़ी तारीफ गायी है। निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्ममें सगुण ब्रह्मके परिचयको नीचे दर्जेका ज्ञान कहा और निर्गुण ब्रह्मके ज्ञानको ऊँचे दर्जेका ज्ञान कहा। उनसे पूछा जाय कि वह निर्गुण ब्रह्म क्या है ? तो इसका संतोषजनक उत्तर चाहे उनसे नहीं मिल पाये, किन्तु स्याद्वाद विधिसे निरखते जावो—सगुणब्रह्मको खूब परखो—परखनेके बाद तत्त्वको छूने वाला पुरुष अघा जायगा और उसे विदित होगा कि यह तो निर्गुण है। शास्त्रोंमें तो भली-भाँति बताया है कि आत्मामें अनन्त गुण हैं, निर्गुण कैसे है, लेकिन जब उन गुणोंके विश्लेषणमें जाते हैं कि क्या ये सारे गुण दुनियामें इस तरह पड़े हुए हैं ? ओह, वस्तु तो एक स्वभाव है, तो वहाँ विदित होता है कि वह द्रव्य निर्गुण है, अपने रूप है, एक स्वभावरूप है, ऐसा विदित होनेपर भी जब इस ओर देखते हैं तो अनन्त गुण मौजूद हैं ? एक गुण दूसरे गुणमें नहीं, आधार-आधेय परस्पर नहीं, हेतु हेतुमान परस्पर नहीं। ज्ञानके कारण दर्शनगुण हो सो नहीं, ज्ञानका कार्य दर्शन हो सो नहीं। दर्शनके कारण ज्ञान हो, सो नहीं। सर्व गुण स्वतंत्र नजर आते हैं, लेकिन

कुछ नजर नहीं आते। गुणकी स्वतंत्र सत्ता ही नहीं है। वस्तु है एक और वह जैसा है सो है। यहाँ आत्माके इन अनन्त गुणोंका वर्णन किया है, फिर भी—

किन्तु सर्वोपि स्वात्मीयः स्वात्मीयः शक्तियोगतः।
नानारूपा ह्यनेकेपि सता सम्मिलिता मिथः ॥१०१४॥

सर्वगुणोंकी एक सत्स्वरूपता—उक्त श्लोकमें यह बताया गया है कि आत्मामें ऐसे अनन्त गुण हैं, समझमें भी आया और गुणोंके बिना कुछ समझमें भी नहीं आता। आत्मामें ज्ञान है, श्रद्धान है, चारित्र है, आनन्द है, वीर्य है, कहते जावो। न मालूम होगा तो रुक जावोगे और मालूम होंगे गुणोंके नाम तो यह सारी जिन्दगी खतम हो जायगी, पर पूरे नाम नहीं कह सकते। ये गुण अनन्त हैं, परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि अपना स्वरूप रख रहे हैं लेकिन देखो तो मजेकी बात कि सत्ता इनकी रहती नहीं, गुण अनेक विदित हो रहे, पर सत्त्व किसी का नहीं। यह विचित्रता कैसे आयी? यों आयी कि वे गुण सत् नहीं किन्तु सत्के अंश हैं। सदंश हैं, सत् नहीं हैं। अगर सत् होते तो प्रदेशवान भी होते। आपको मालूम होगा कि द्रव्यमें ६ साधारण गुण होते हैं—(१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) अगुरुलघुत्व (५) प्रदेशवत्व और (६) प्रमेयत्व। इसी तरह गुणमें ५ बातें किसी भी तरह घटित कर लो गुण हैं, मालूम तो हो रहा, जबरदस्ती मान लिया है, सत् हैं, क्योंकि परिणमन चल रहा और वे अपने स्वरूपसे हैं पररूपसे नहीं, यह भी समझमें आया और अपनेमें निरन्तर परिणमते रहते हैं, अपनेमें परिणमते दूसरेमें नहीं परिणमते। उसमें अगुरुलघुत्व भी समझमें आया। और देखे जा रहे हैं ना, ज्ञानके विषय हैं ना? प्रमेयत्व भी ध्यानमें आय। अब प्रदेशत्व घटावो तो यहाँ गाड़ी रुक जाती है। गुण प्रदेशवान कहाँ और अगर हैं प्रदेशवान तो ज्ञान अपने प्रदेश वाला है, श्रद्धान अपने प्रदेश वाला है, अनन्तगुण अपने-अपने प्रदेश वाले हैं। तो लो यहाँ तो अनन्त पदार्थ बन गए। तो गुणोंकी इतनी चर्चा करते-करते, बड़े खुश होते होते, खूब समझमें आते आते जहाँ एक सत्त्वकी बात आयी तब वहाँ यह लगा—कि अरे इतना तो पढ़ा लिखा, इतनी तो मेहनत किया, इतनी तो समझ बनाया, पर यहाँ तो निर्गुण नजर आया। उन गुणोंकी ओर से तो निर्गुणता समझमें आयी। यह आत्मा निर्गुण है, यह ब्रह्म निर्गुण है। तो ये गुण अपनी-अपनी भिन्न शक्तिको धारण कर रहे हैं। इसलिए ये निराले हैं, अनेक हैं, लेकिन वे सारे गुण सबके सब परस्पर संकर होते हुए एकमेक होते हुए एक द्रव्यसे ही तादात्म्यरूपसे रह रहे हैं। दृष्टि एक ओर जाकर देखती है तो यह विदित होता कि संकर होता ही नहीं, परस्परमें ये मिलते ही नहीं भिन्न-भिन्न हैं। जरा अन्दरकी ओर आये तो यह लग रहा कि ये तो सब एकमेक हैं, संकर हैं और नीचे चलो और भीतर आये तो लगा कि ये तो हैं ही नहीं। ऐसा यह निर्गुण ब्रह्म है। तो ये समस्त गुण जिनको

http://sahjanandvarnishastra.org/

घातने वाले ये कर्म बताये गए ये गुण परस्पर अपना स्वरूप निराला रखनेके कारण भिन्न हैं, लेकिन एक द्रव्यसे अपना तादात्म्य सम्बन्ध रखते हैं, अतएव ये भिन्न नहीं हैं।

गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात्।
गुणाः केचित् समुद्दिष्टाः प्रसिद्धाः पूर्वसूरिभि ॥१०१५॥

आत्माके कुछ प्रसिद्ध गुणोंकी वर्णनीयताका कारण—गुण अनन्त हैं और वे सब गुण कहे नहीं जा सकते। उनमें से कुछ कहे भी जा सकते हैं, लेकिन अधिक बोलना वचन गौरव को बनाता है। इसलिए बहुतसे गुणोंका वर्णन न करके कुछ प्रसिद्ध गुणोंका वर्णन किया गया है। और उन गुणोंमें जो गुण इसके लिए उपकारी हैं, जिनका आलम्बन करके, आश्रय करके आत्माका हित बने उन गुणोंका वर्णन किया है। जैसे अभी तक ज्ञान, दर्शन सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य—इन ५ गुणोंका वर्णन किया गया है। ज्ञानगुण तो सब गुणोंमें प्रधान है, याने ज्ञानबलसे ही यह जीव सन्मार्गमें लगता है और इस ज्ञानके शुद्ध स्वरूपके निरखने से जीवको सन्मार्ग मिलता है। तो ज्ञानगुण तो यों उपकारी है, दर्शन गुण भी ज्ञान-गुणके समान अपनी अधिक महिमा रखता है। ज्ञानने जाना और उस जाननहार आत्माका प्रतिभास कर लिया यह है दर्शनका काम। यह काम सब जीवोंमें होता रहता है, मगर उस का पता नहीं करते, उसका लक्ष्य नहीं रखते। दर्शन हुआ, न हुआ, समान सा रहता है, याने लाभ नहीं पहुंच पाता। प्रत्येक जीव जब ज्ञान द्वारा जानता है तो जाननहारको संभाले भी रहता है और जाननेसे पहिले अपनी संभाल बनाता है। जैसे अभी चौकीको जाना तो चौकीका ज्ञान छोड़कर भींतको जानने चले तो ऐसी एक स्थिति आती है ना। चौकीका ध्यान तो छूट गया और भींतका ज्ञान नहीं कर पाया, ऐसी बीचमें जो एक थोड़े समयकी स्थिति होती है वहाँ उपयोग क्या करता है? दर्शनको संभालता है, अपनी संभाल बनाता है जो कि नये पदार्थके जाननेमें बल प्रकट करता है। जैसे कोई कूदने वाला बच्चा २ फिट कूदे, ३ फिट कूदे तो कूदने वाला पुरुष पहिले अपने आपमें सिमिटता है, जमीनकी ओर वजन देता है फिर उचककर कूदता है, तो सिमिटना, जमीनकी ओर बल लगाना, नीचेकी ओर, अन्दर की ओर बल लगाकर कूदा जाता है। ऐसे ही नई-नई चीजोंका जो जानना चल रहा है छद्मस्थ जीवोंका वह अपने आपके अन्तर्बलको लगाकर जाना जाता है। यह ही हुआ दर्शनका काम और केवलज्ञान हो जानेपर ज्ञानसे जान रहे हैं, तत्काल ही उस जाननहारको प्रतिभास रहे हैं। तो दर्शनगुण भी एक उपयोगी गुण है समझनेके लिए, आश्रय लेनेके लिए। तीसरा है सम्यक्त्वगुण। उसकी महिमाको तो कौन कह सकता है? सम्यक्त्वके समान लोकमें कुछ भी श्रेयस्कर वस्तु नहीं है और सम्यक्त्व न हो, मिथ्यात्व हो तो उसके समान दुनियामें कोई अश्रेयस्कर नहीं है। बरबादी करने वाला भाव है मिथ्यात्व और आत्माका एक श्रेय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

करने वाला मात्र है सम्यक्त्व । तो सम्यक्त्वगुणसे तो मोक्षमार्ग चलता है । सम्यग्दर्शन बिना मोक्षका मार्ग द्रव्य नहीं कहलाता । सम्यक्त्वगुण ऐसा उपयोगी है । चारित्रगुण--आत्मा अपने आपके गुणोंमें रम जाय, उसे बाहरकी ओरका कुछ विकल्प न करना पड़े, इस तरह अपने आपमें रम जानेका नाम चारित्र है । चारित्रसे भी आत्मामें अतुल पराक्रम प्रकट होता है । ५ वाँ बतलाया गया वीर्यगुण आत्माकी शक्ति । आत्माकी शक्ति अपने आपको अपने आपमें डाटे रहनेमें है । कभी देखा होगा--जिस पुरुषमें शक्ति नहीं रहती वह अपने ही नाक, थूक को खूनको शरीरको अपने आपमें डाटे नहीं रह सकता । वह निकल जाता है । तो यह भी एक शक्तिका ही काम है जो हम अपने शरीरमें अपने शरीरको डाटे हुए हैं । वहाँ एक ऐसा अनन्त बल होता है प्रभुमें कि जितने अनन्त गुणविकास हुए हैं, वे डटे रहें, बने रहें, अपनेमें ऐसी सामर्थ्य अनन्तवीर्यमें है । आत्मामें ऐसा वीर्यगुण है । ऐसे कुछ प्रसिद्ध गुणोंका यहाँ निरूपण किया गया है ।

यत्पुनः क्वचित् कस्यापि सीमाज्ञानममेकधा ।
मनःपर्ययज्ञानं वा तद्द्वयं भावयेत् समम् ॥१०१६॥
तत्तदावरणस्योच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः ।
स्याद्यथालक्षितभावात्स्यादत्राप्यपरा गतिः ॥१०१७॥

अवधिज्ञानमें भावत्वका विश्लेषण—अब इन दो श्लोकोंमें अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानका वर्णन किया जा रहा है । जहाँ कहीं भी अवधिज्ञान प्रकट होता है वह अनेक प्रकारसे प्रकट होता है । जैसे केवलज्ञानका प्रकार एक ही है, चाहे तीर्थंकर केवली हुआ हो, चाहे सामान्यकेवली हुआ हो । केवलज्ञान होनेपर केवलज्ञानमें जो कुछ चमत्कार होता है वह सबके एक समान होता है । वह केवलज्ञान सबके समान है, किन्तु अवधिज्ञान सबके समान नहीं है । इसमें असंख्याते भेद हैं । द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे अवधिज्ञानके अनेक प्रकार हैं । जैसे कोई कितने मोटेको जान सकता है, कोई उससे सूक्ष्मको जान सकता है । तो ऐसे द्रव्यकी अपेक्षासे अवधिज्ञानके होनेपर नाना प्रकार हैं । कोई कितने ही दूरकी बात जान सकता है, कोई और दूरकी जान सकता है । क्षेत्रकी अपेक्षा दूरीके कितने भेद हैं ? कोई एक अंगुल दूर तककी ही जान सके, पीठ पीछे एक अंगुल दूर पर कोई वस्तु हो उसका ज्ञान कर सके ऐसा अवधिज्ञान है तो कोई एक मीलका, कोई १० हजार मीलका । क्षेत्रकी अपेक्षासे अनेक प्रकार हैं । कालकी दृष्टिसे कोई ५ मिनट आगेकी ही बात जान सकता है, कोई दो दिनकी, कोई हजार वर्षकी । तो कालकी अपेक्षा भी अवधिज्ञानके अनेक प्रकार हैं । भावकी अपेक्षा कोई रूपादिक को बहुत सूक्ष्मतासे जान सकता, कोई मोटे रूपसे जान सकता, कोई नाना पर्यायोंको जान सकता । पर्यायमें भी अंशोंसे पहिचान सकता, गुणके अंशोंको

http://sahjanandvarnishastra.org/

जान सकता। यों अनेक भेद होते हैं। ये तो हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा अवधिज्ञानके भेद। फिर कोई थोड़ा ही जानता, कोई सारे लोकको जानता, कोई इतना जानता कि ऐसे लोग यदि असंख्याते होते तो उनको भी जानता। इतनी सामर्थ्य रखता है। इस तरह भी भेद है और अवधिज्ञानके अनुगामी आदिककी दृष्टिसे भी अनेक भेद हैं। कोई अवधिज्ञान अनुगामी होता है। जिस भवमें अवधिज्ञान प्रकट हुआ है उस भवको छोड़कर अगले भवमें जन्म लेगा तो वह अवधिज्ञान साथ-साथ जायगा और नये भवमें भी रहेगा, ऐसा भी अवधिज्ञान होता है। मान लो किसीको मेरठमें अवधिज्ञान हुआ और वह मुजफ्फरनगर या अन्य देशमें विहार कर गया तो वहाँ भी अवधिज्ञान रहेगा, ऐसा अवधिज्ञान होता है और किसीके भव बदलने पर भी, क्षेत्र बदलने पर भी अवधिज्ञान बना रहे, यों अनुगामी अवधिज्ञान होता है। कोई अवधिज्ञान ऐसा होता कि भव छूटनेपर, दूसरे भवमें जन्म लेने पर अवधिज्ञान नहीं रहता, वह पहिले भवका अवधिज्ञान मरणके साथ ही खतम होता है। कोई ऐसा अवधिज्ञान होता है कि मानो—जैसे मेरठमें अवधिज्ञान हुआ और वह यहाँसे ५ मील चला जाय कहीं, अवधिज्ञान न रहेगा, ऐसा अननुगामी अवधिज्ञान कहलाता है। कोई दोनों दृष्टियोंसे अननुगामी होता है। वर्द्धमान, हीयमानके भी अवधिज्ञान अनेक तरहसे होते हैं। जितने अंशमें अवधिज्ञान प्रकट होता है वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जायगा। वह बहुत क्षेत्रकी बात जानेगा, बहुत कालकी बात जानेगा। सूक्ष्मसे सूक्ष्म द्रव्यको जानेगा। इस तरह यह वर्द्धमान अवधिज्ञान होता है। तो कोई अवधिज्ञान ऐसा होता कि जितने अंशोंमें प्रकट हुआ है उसके बाद घटता ही चला जायगा। यों अवधिज्ञान नाना प्रकारके होते हैं। कोई अवधिज्ञान अवस्थित है, जैसा पैदा हुआ वैसा ही रहेगा, न घटेगा, न बढ़ेगा। और कोई अनवस्थित है, कभी घट जाता है, कभी बढ़ जाता है। घट-बढ़ यह अनियत रूपसे बना ही रहता है। यों अवधिज्ञान नाना प्रकारके होते हैं। ये अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होते हैं। यहाँ इतना भेद समझना कि कोई जीव देव अथवा नारकी बनता है तो वहाँ नियमसे अवधिज्ञान होगा। इसे कहते हैं भवप्रत्यय। लेकिन भवप्रत्ययके साथ यह न समझना कि अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम नहीं है और हो गया, देव नारकियोंका ज्ञान क्षयोपशम तो है, पर वहाँ भवका ऐसा नियोग है कि उस भवको पाकर नियमसे अवधिज्ञान होगा। पर मनुष्य और तिर्यंचोंके भवका नियम नहीं है। हो भी और न भी हो। जिसकी जैसी योग्यता है वैसा उसमें होता है। वैसे मनुष्योंमें एक तीर्थंकर भव ऐसा है कि जिसका नियम है कि पहिले भी अवधिज्ञान था, गर्भमें भी अवधिज्ञान है। तीर्थंकर दशाको प्राप्त होने वाले जीवके अवधिज्ञान नियमसे रहता है। यह अवधिज्ञान जब छूटेगा तब केवलज्ञान होगा। प्रकरण तो यहाँ औदयिक भावों का चल रहा है। और औदयिक भावमें यह बताना आवश्यक था कि किस तरह किसके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

उदयसे कैसा भाव होता है ? अवधिज्ञान भाव औदयिक नहीं है, क्षायोपशमिक है, इसलिए अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमकी बात कही गई है। हाँ जितने अंशमें ज्ञान प्रकट नहीं हो रहा जितना अवधिज्ञानावरणका उदय चल रहा उतना अज्ञान है। उसे औदयिक भाव कहेंगे।

मनःपर्ययज्ञानमें भावत्वका विश्लेषण—मनःपर्ययज्ञान कहते हैं मनके विकल्पको, वस्तुको जानना। कोई मनुष्य जो कुछ भी विचार कर रहा उसको समझ जायेंगे मनःपर्यय-ज्ञानी जन। यह केवल साधु जनोंके होता है, मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है। इसमें भी अनेक भेद हैं। कोई सरल बातको ही जान सकता है। कोई पुरुष कपटी नहीं है, सरल है, भला है, जैसा कि यहाँ भी परखमें आता। भले आदमीके मनकी बात झट निकाल सकते हैं, ऐसे भोले सरलके मनकी बात को जानना ऋजुमतिमनःपर्यय है और कोई कैसा ही कपटी हो, मुद्रा कुछ बनती हो, मनमें कुछ बात हो अथवा उसने पहिले विचार किया था कि आगे विचार करेंगे, सबको जान जाय, वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है। यह मनःपर्ययज्ञान भी मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशमसे प्रकट होता है। मनःपर्ययज्ञान औदयिक भाव नहीं है, क्षायोपशमिक भाव है, किन्तु जितने अंशोंमें मनःपर्ययज्ञानावरण देशघातीका उदय चल रहा है उतने अंशोंमें जो ज्ञान प्रकट नहीं है उस अपेक्षासे ज्ञानभाव औदयिक कह सकते हैं। ५ ज्ञानोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्ष ज्ञान हैं, इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होते हैं, किन्तु अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है, है विकल प्रत्यक्ष। सारा नहीं जान सकता, किन्तु इन्द्रिय और मनके द्वारा नहीं जानता। हाँ, किसी रूपमें मन उसमें आश्रय पड़ जाता है, लेकिन जानते हैं आत्मशक्तिसे, इन्द्रियका कारण बनाये बिना, इस कारण यह भी प्रत्यक्ष-ज्ञान कहलाता है। केवलज्ञान तो प्रकट प्रत्यक्ष है। ये कोई भी ज्ञान औदयिक नहीं हैं, किन्तु कर्मोदय होनेपर जितना ज्ञान प्रकट नहीं हो रहा उतनेको सोचकर कहा जायगा कि अज्ञानभाव है और औदयिक भाव है।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सदातनम्।
स्याद्वा तरतमैर्भावैर्यथा हेतूपलब्धिसात् ॥१०१८॥

संसारमें मतिज्ञान व श्रुतज्ञानकी सदातनता—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों संसार अवस्थामें सदा रहते हैं। सूत्रजी में कहा है ना—सर्वस्वं, मतिज्ञान सब जीवोंके होता है। अवधिज्ञान हो उसके भी है, मनःपर्ययज्ञानी हो उसके भी है, एकेन्द्रिय जीव हो उसके भी है। एकेन्द्रियके मति श्रुतको कुमति कुश्रुत कहेंगे, पर मति श्रुत बिना कोई संसारी जीव नहीं है। ये तो वहाँ ही समाप्त होते हैं जहाँ केवलज्ञान प्रकट होता है। तो ये मति श्रुतज्ञान संसार अवस्थामें सदा सब जीवोंके हैं और इनका निमित्त जैसा मिलता है उस प्रकार इसके भेद बन जाते हैं। जैसे मतिज्ञानके ३३६ प्रकार हैं—स्पर्शनइन्द्रियसे जाना, रसनासे जाना, घ्राण,

http://sahjanandvarnishastra.org/

चक्षु, कर्णसे जाना, मनसे जाना, और यह सब जानना होता है १२ प्रकारके अर्थोंका और ये सब होते हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन ४ रूपोंमें। तो ६ × १२ × ४ = २८८ तथा व्यञ्जनावग्रहके ४८, इस तरह विस्तार किया जाय तो ३३६ भेद कहे गए हैं, पर वास्तविक भेद कितने हैं, उनको बताया नहीं जा सकता। वे असंख्याते हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणाका अर्थ यह है कि किसी चीजको जब हम जानते हैं तो सबसे प्रारम्भमें ज्ञान होता है, मगर उस ज्ञानमें दृढ़ता नहीं रहती और उसके बाद संशयको मौका मिलता है कि यह पदार्थ ऐसा है या नहीं है। ईहा ज्ञान ऐसे संशयको भेदता हुआ किसी एकका ज्ञान करा देता है, यह होना चाहिए, किन्तु अवाय ज्ञान पूरे निश्चयके साथ बोध कराता है। यह ही अवाय है। अवाय तक सारा काम बन चुका। ज्ञानमें अब कोई कमी न रहो, निर्णय पूरा हो गया, मगर अवाय द्वारा पदार्थको जानकर फिर कभी भूले नहीं बहुत काल तक, याद रह सके, धारणा बनी रहे ऐसी जो और विशेषता बनी रहती है उसे कहते हैं धारणाज्ञान। यों मतिज्ञान अनेक प्रकारका है और श्रुतज्ञान भी नाना प्रकारके हैं। जैसे सिद्धान्तकी दृष्टिसे ११ अंग १४ पूर्व और अंग बाह्यका ज्ञान होना, परिकल्प सूत्रादिकका ज्ञान होना—ये सब श्रुतज्ञानके प्रकार हैं। वैसे व्यवहारमें उतनी तरहके श्रुतज्ञान चलते हैं जितने विकल्प हैं, विचार हैं, निर्णय हैं, बोध हो रहे हैं, ये सब श्रुतज्ञान ही तो हैं। मतिज्ञानमें विकल्प उत्पन्न नहीं होता। देखनेके साथ जब ऐसा समझा कि यह पीला है श्रुतज्ञान हो गया। पीलेको जाना तो था पहिले मगर जान लिया, पीलेका विकल्प न उठा था तब तक मतिज्ञान था। जहाँ कुछ विशेष बोध किया, श्रुतज्ञान हो गया। फिर यह कहाँका रंग है, कहाँसे मिलता है, किसने लगाया आदि अनेक बातें समझते जावो, यह श्रुतज्ञान है। यों व्यवहारतः भी श्रुतज्ञान अनेक प्रकारका है और शास्त्रसूत्रों की दृष्टिसे श्रुतज्ञान अनेक प्रकारका है।

ज्ञानं यद्यावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत्।
क्षायोपशमिकं तावदस्ति नौदयिकं भवेत् ॥१०१६॥

मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय ज्ञानोंकी क्षायोपशमिकता—इस प्रकरणमें ज्ञानके स्वरूपकी चर्चा की है। जो ज्ञान जीवके प्रकट होता है वह ज्ञान किस-किस ढंगसे होता है, किस-किस प्रकारका होता है? यह सब वर्णन किया है। अब बतलाते हैं इस श्लोकमें कि जितने भी ज्ञान हैं वे सब हैं तो जानकारी। पदार्थको ग्रहण करनेकी शक्ति रख रहे हैं समस्त ज्ञान। तो ये सारे ज्ञान जो हम आपको हैं ये क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, ये औदयिक ज्ञान या अज्ञान नहीं हैं। इनमें भी अगर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह छंटनी आप कर सकते हैं कि ज्ञान क्या है और विकल्प विचार राग मैल तरंग क्या है? वर्तमानमें ज्ञान और राग तरंग ये एक साथ मिल-जुलकर काम कर रहे हैं और यही आफत है। वहाँ इस जीवको इतना भेद करनेका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अवसर नहीं रह पाता है मोहके उदयमें कि वह समझ सके कि ज्ञान तो इतना है और यह मेरा स्वरूप है। बाकी ये सब राग हैं, विकल्प हैं। जैसे हरे बल्बका प्रकाश हो रहा तो वहाँ कोई यह भेद नहीं कर पाता कि प्रकाश तो इसका नाम है और जो हरा है वह प्रकाश नहीं कहलाता। कितना कठिन है ऐसा बोध करना? इससे भी अधिक कठिन है हम आपके जो परिणमन चलते हैं उनमें भेद करना कि ज्ञान तो यह है, राग यह है। बस ऐसा ज्ञान, ऐसा भेद बोध जिनके हो पाता है उनको ही सम्यग्दृष्टि कहते हैं, तत्त्वज्ञानी कहते हैं। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, रागरूप नहीं। ज्ञानधर्म है, प्रेम अधर्म है। ज्ञान शाश्वत है, प्रेम विनाशीक है। ज्ञान सहज होता है प्रेम कर्मके उदयसे होता है। तो जो प्रेम और ज्ञानमें भेद कर सकता है और भेद करना ही चाहिए। कलंकता और निष्कलंकता इन दोनोंका मेल कैसे किया जा रहा है, प्रेम विरोध मोह यह तो कलंक है। संसारमें रुलने वाले तत्त्व हैं, और [illegible] एक [illegible]विकार ज्ञान अवस्था है वह निष्कलंक दशा है। अपनेको अविकाररूप अनुभव करें [illegible] देखो जब गृहस्थ जीवनमें रह रहे तो यहाँ राग बिना, प्रेम बिना गुजारा तो न चलेगा [illegible] गुजारा न चलेगा ऐसा समझें, पर श्रद्धा साधुवोंकी तरह बनावें कि प्रेमका अंश भी, रागका अंश भी मेरा बैरी है और पाप है। वह कभी त्रिकालमें भी धर्म नहीं हो सकता। जिनेन्द्रदेवने घोषणा करके यह बात कही है कि धर्म तो केवल एक अविकार ज्ञानस्वरूप है। जो करते बने सो करें, मगर जो कर रहे उसे ऐसा मत समझें कि यही सत्य है, यही धर्म है और यही संसारसे तारनहार है। धर्म मानें केवल एक अविकार ज्ञानज्योतिस्वरूपको। बस मैं धर्ममूर्ति हूँ, ज्ञानमूर्ति हूं, इस ही अविकार ज्ञानस्वरूपका आलम्बन रहे, यही सत्य है, शेष सब असत्य है। यह ही मेरे लिए हितरूप है, शेष अहित है। तो औदयिक भावके प्रकरणमें इस क्षायोपशमिक ज्ञान का जिक्र किया तो गया, लेकिन वह क्षायोपशमिक है, पर श्रद्धा यह रखें कि ऐसा ज्ञान भी मुझे न चाहिए। मेरेको तो सहज जो ज्ञान प्रकट होता हो वह चाहिए। तो भला बतलावो—जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, इस क्षायोपशमिक ज्ञानसे भी विरक्त रहता हो वह प्रेमको, विरोधको कैसे पसंद करेगा? कैसे उसे धर्म कह सकेगा? कैसी भी स्थितिमें हो, राग और द्वेष तो अधर्म ही हैं। उनसे हटकर अविकार धर्मस्वरूप इस ज्ञानस्वभावमें आना चाहिए।

अस्ति द्वेधावधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात्।
ज्ञानं स्यात्सम्यगवधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः ॥ १०२०॥

अवधिज्ञानकी सम्यक्‌रूपता व विपरीतरूपताका निर्देश—अवधिज्ञान दो प्रकारसे होता है—एक सम्यक्त्वके रहते हुए जिसका नाम है अवधिज्ञान, सुअवधि, सम्यक्‌अवधि, और एक होता है मिथ्यात्वके अभावमें, जिसका नाम है कुअवधि, मिथ्याअवधि। जहाँ

http://sahjanandvarnishastra.org/

सामान्यतया ज्ञान शब्द कहा जाता है वहाँ अर्थ सम्यग्ज्ञान लिया जाता है और वह ज्ञान कहने के लिए कोई विशेषण लगाया जाता है। तो अवधिज्ञान शब्द जब बोला जाय तो उससे सम्यक्अवधिज्ञान लिया जायगा और जब विपरीत अवधिज्ञानको कहना होगा तो उसके साथ नियमसे कुछ विपरीत आदिक शब्द लगेंगे अथवा इसका दूसरा नाम है। विभंगावधि-ज्ञान। अवधिज्ञानमें भी रूपी पदार्थ जान लिए जाते हैं। दूर क्षेत्रमें भूत भविष्यमें रहने वाले रूपी पदार्थ पौद्गलिक चीजें ज्ञात हो जाती हैं सम्यक्अवधिज्ञानमें और ऐसे ही दूर भूत भविष्य में जो पौद्गलिक पदार्थ है वह ज्ञात हो जाता है। लेकिन आशयका अन्तर है। आशयके अन्तरसे अवधिज्ञान सुअवधि और कुअवधि कहलाता है। जैसे एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि एक राजा अरविन्दको एक [illegible] खूब तेज बुखार था। उस बुखारमें दाह बहुत थी। अचानक ही भींत पर दो [illegible] गई और उनकी पूँछ टूट गई। पूछ टूटनेसे खूनके कुछ बूंद राजा के शरीर पर पडे [illegible]से बड़ी साता मिली। उसने झट अपने पुत्रोंको हुक्म दिया कि जावो अमुक जंगलसे पशुओं[illegible] मारकर उनका खून लावो। खूनसे बावड़ी भरा दो, हम उसमें नहा कर सन्तुष्ट होंगे। राजपुत्र इस बातको सुनकर काँप उठे। सोचा कि इसमें तो कितने ही निरपराध जीवोंकी हत्या करनी होगी, पर पिताका हुक्म था, सो पिता द्वारा बताये हुए जंगल में वे दोनों राजकुमर गए। वहाँ उन्हें एक मुनिराज मिले। मुनिराजने उनके आनेपर पहिले ही कहा कि तुम लोग व्यर्थ ही अपने पिताका हुक्म बजाने आये हो। अरे तुम्हारा पिता तो कुअवधिज्ञानी है। वह तो शीघ्र ही मरकर नरक जाने वाला है। उसके कहनेमें आकर व्यर्थ पाप करना क्यों विचार रहे हो? मुनिराजकी ऐसी बातें सुनकर दोनों राजपुत्र दंग रह गए। सोचा कि बिना बताये ये जान कैसे गए? तो वे दोनों राजपुत्र बोले—महाराज! हमारा पिता तो अवधिज्ञानी है। उसने ही बताया है कि अमुक जंगल जावो—वहाँ अमुक अमुक स्थानपर अमुक-अमुक जानवर मिलेंगे। वह कुअवधि ज्ञानी कैसे? नरकगामी कैसे? तो मुनिराज बोले—अच्छा जावो अपने पितासे यह मालूम करो कि उस जंगलमें उन पशुओंके अतिरिक्त और भी कोई है या नहीं। उसका उत्तर मुझे बताना। गये वे दोनों राजकुमार पिताके पास और पूछा कि पिताजी आप यह बताइये कि जिस जंगलमें हमें पशु मारने आपने भेजा उसमें और भी कोई रह रहा है या नहीं। तो वह राजा बोला—हाँ रह रहे हैं। जंगलके अमुक कोनेमें खरगोश भी हैं, अमुक कोनेमें बारहसिहे भी हैं, सब कुछ बताया पर यह न बता सका कि उस जंगलमें कोई मुनिराज भी बिराजे हैं। राजकुमार वापिस जंगल आये और मुनिराजसे कहा—हाँ महाराज आप ठीक ही कह रहे थे। हमारे पिताने और तो सब बातें बताईं पर यह न बता सके कि उस जंगलमें कोई मुनिराज बिराजे हैं। तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वास्तवमें हमारा पिता कुअवधिज्ञानी है। तो कुअवधिज्ञानमें सब खोटी खोटी बातें दिखेंगी, भली बातें, अच्छी बातें न दिखेंगी। आखिर बादमें राजपुत्रोंने शिकार तो न किया, पर लाख के रंगसे बावड़ी भरा दी। जब उस राजाने उसमें स्नान किया तो समझ गया कि यह खून नहीं है, यह तो रंग है। सो क्रोधमें आकर नंगी कटारी लेकर दोनों पुत्रोंको मारने दौड़ा। दोनों पुत्र भागे जा रहे थे। वह बीमार हालतमें ही नंगी कटार लिए उनका पीछा किए जा रहा था। एक जगह उस राजाको पैरमें ठोकर लगी और गिर गया, उसकी ही कटार उसके पेटमें घुस गयी और मरकर नरक गया। तो कुअवधिज्ञानमें आगे पीछेकी बातोंका ज्ञान तो होता है, पर आशय बुरा रहता है, इसलिए वह कुअवधिज्ञान है। यों अवधिज्ञानके दो प्रकार है—सम्यक्अवधि और विपरीत अवधि।

अस्ति द्वेधा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च स्याद्द्विधा।
सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥१०२१॥

मति व श्रुत इन दो ज्ञानोंकी भी सम्यक्रूपता व विपरीतरूपताका निर्देश—मतिज्ञान भी दो प्रकारका है और श्रुतज्ञान भी दो प्रकारका है। सम्यग्दर्शनके साथ होने वाला मतिज्ञान, श्रुतज्ञान सम्यक्मति और सम्यक्श्रुत है। सम्यक्त्वके अभावमें होने वाला मति, श्रुत, कुमति और कुश्रुत कहलाता है। ज्ञानका जो लक्षण है वह दोनों जगह पाया जायगा। मतिज्ञान भी इन्द्रिय और मनसे पदार्थको जानता है तो कुमतिको भी इन्द्रिय और मनसे जाना जाता है। जाननेकी जो स्थिति है, उत्पत्तिका जो कारण है वह दोनों जगह समान है। मतिज्ञान भी ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है, कुमतिज्ञान भी क्षयोपशमसे होता है, पर सम्यक्त्वके साथ होनेसे कुमति कहलाता है और मिथ्यात्वके साथ सम्यक्त्वके अभावमें होने वाला मतिज्ञान कुमतिज्ञान कहलाता है। मिथ्यादृष्टि जीव भी खूब जानता तो है सब कुछ, बड़े-बड़े आविष्कारक वैज्ञानिक लोग भी हैं, वे सब कुछ जान जाते, किन्तु वास्तविकता क्या है, मूलद्रव्य क्या है यह उनके ज्ञानमें नहीं है, इसलिए वह साराका सारा ज्ञान कुमतिज्ञान है। सांपको सांप जान रहा है मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव, फिर भी वह ज्ञान कुमतिज्ञान है, क्योंकि उसे यथार्थ बोध नहीं है कि वह पौद्गलिक पिण्ड है, अनन्त परमाणुओंका पुञ्ज है, इसमें तथ्य तो परमाणु-परमाणु है। स्कंध तो मायारूप है। उसके सम्बंधमें उसे ठीक परिचय नहीं है और सम्यग्दृष्टि जीव कभी रस्सीको भी साँप जान ले तो भी लौकिक हिसाबसे तो मिथ्याज्ञान है, मगर आत्मत्वके नातेसे मिथ्याज्ञान नहीं है। जान लिया रस्सीको साँप, कुछ भी समझ लिया, मगर जो ज्ञानमें आया उसके बारेमें सही बोध है कि यह अनन्त परमाणुओंका पिण्ड है, स्कंध है, यह मायारूप है, परमार्थ तो अणु है ऐसी उसकी द्रव्यदृष्टि है, वहाँ यथार्थ समझ रहा है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जितने परमाणुवोंका यह पिण्ड है वे परमाणु परस्पर भिन्न हैं, बंधकी स्थितिमें एक हो रहे हैं। इस तरह ज्ञानीको भेद अभेदस्वरूप कारण सबका यथार्थ परिचय है तब सम्यक्त्वके साथ होने वाले मतिज्ञान सब सुमति कहलाते हैं। यही बात श्रुतज्ञानमें घटित करो। मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थमें और विशेष जानना सो श्रुतज्ञान है। अब वह और विशेष ऊट-पटांग यहाँ वहाँका जान रहा है। जैसे यह घर है, अमुकका घर है। अब यह अटपट जान लिया। जिसे लोग घरका मालिक कहते हैं उसका घर कहाँ है? अरे वह तो एक अशरण आत्मा है। संसारमें भटक-भटककर यहाँ पैदा हो गया है, उसका लगता क्या है घर? तो भले ही बहुत-बहुत बातें परख लेवे, श्रुतज्ञान द्वारा बड़े-बड़े आविष्कार कर ले, लेकिन सम्यक्त्वके अभावमें होने वाला श्रुतज्ञान कुश्रुतज्ञान है और सम्यक्त्वके होनेपर होने वाला श्रुतज्ञान सम्यक्श्रुतज्ञान कहलाता है। बड़ी-बड़ी कथायें रचेंगे, पर उनका आशय क्या है और शिक्षा क्या है, इसपर विचार करो। प्रायः करके वे सारे कथानक रागद्वेषके उत्पन्न करने वाले, संसारमें फंसाने वाले और भव-भवमें रुलाने वाले हैं। तो जिन शास्त्रोंमें रागद्वेष मोहको बढ़ाने वाली बातें हों वे सब कुशास्त्र हैं, और उनके द्वारा किया गया ज्ञान श्रुतज्ञान है। और जहाँ थोड़ा भी कथन हो और वह एकदम ब्रह्मस्वरूपका स्पर्श करा देने वाला हो उस श्रुतज्ञानकी महिमाको कौन कह सकता है?

सम्यक्त्वके होनेपर ज्ञानमें सम्यक्रूपता व सम्यक्त्वके अभावमें मिथ्यारूपता—जैन-शासनका एक छोटासा ही वाक्य ले लो—"समस्त वस्तुयें परिणमनशील हैं।" देखिये यह वाक्य है तो छोटासा पर इसमें सम्यग्ज्ञानका बहुत बड़ा प्रकाश आ गया। ओह, वस्तु परिणमनशील है, निरन्तर परिणमती रहे, ऐसा वस्तुमें स्वभाव पड़ा है और यह स्वभाव उसमें उसके सत्त्वके कारण भरा हुआ है। प्रति समय वस्तु परिणमेगी, परिणमे बिना रह नहीं सकती। निरन्तर नवीन पर्याय बनेगी और वर्तमान पर्याय विलीन होगी, इसपर भी वह पदार्थ निरन्तर रहेगा। लो कितनी किरणें आ गईं इसमें? पदार्थ कथञ्चित नित्य है, सर्वथा नित्य कूटस्थ अपरिणामी अद्वैतकी जो कल्पना की जाती है वह कल्पना वस्तुस्वरूपके विपरीत है। विपरीत श्रद्धामें मोक्षमार्गकी शिक्षा न मिलेगी। पदार्थ क्षणिक है, कथञ्चित अनित्य है तब ही तो ये नवीन-नवीन किरणें आयीं। और क्या किरणें मिलीं? वस्तु स्वतःसिद्ध है, उसे किसीने बनाया नहीं। ओह लौकिक जनोंने एक महान भ्रममें आकर ऐसा मान लिया कि इन समस्त वस्तुओंको किसीने बनाया है और बड़े गर्वके साथ कहते हैं कि कोई एक शक्तिमान ईश्वर है, अनन्त शक्तिमान है, ऐसा मानते हैं। ईश्वरकी कल्पना और मान्यता तो करना चाहिये था इस बातमें कि वह अनन्तज्ञान और अनन्तआनन्दके विलासमें रहता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सबसे बड़ी विपरीतता तो अपने आपके स्वरूपमें टिकनेकी है, विकल्प करनेमें वीरता नहीं है। यही कठिन लग रहा लोगोंको। धर्ममें रुचि नहीं होती, यद्यपि देखने वाले जहाँ हजारों धर्मात्मा हैं वहाँ वास्तविक मायनेमें २–४ ही धर्मात्मा मिलेंगे। देखिये फर्क क्या रह गया ? एकको उसकी आदत पड़ गयी। उसमें उसके बिना चैन नहीं। एक सुमार्गमें आ गए, रूढ़िवश धर्म करते हैं कुछ लोग अपनेको लोगोंमें अच्छा कहलवानेके लिए, लोगोंमें अपनी कुछ प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिए धर्ममार्ग करते हैं। यों कितने ही आशय धर्म करनेके हो सकते हैं अथवा किसीका थोड़ा आशय कल्याणका भी हो तो भी नामका कल्याण सुन रखा। कल्याण किसे कहते हैं, इसका स्वरूप ही नहीं समझा, यों अनेकों लोग मिलेंगे, लेकिन वास्तविक धर्मबुद्धि, धर्मरुचि जिसके बलसे संसारसे पार हुआ जा सकता है ऐसी बुद्धि तो उसके ही आयगी जिसने कुछ समझ रखा है कि सारा वैभव सारहीन है, मैल है, कलंक है। मुझे तो संसारके जन्म-मरणसे छूटना चाहिए। इस प्रकारकी बुद्धि बनायी हो तब समझिये कि हां धर्मरुचिका पुरुष है यह। तो बहुत-बहुत उपदेश हैं, शास्त्र हैं और निर्णय करें कि जिनके सुननेसे, मनन करनेसे ज्ञान और वैराग्यको प्रोत्साहन मिले वे तो हैं सच्चे शास्त्र और जिनके प्रसंगसे राग, प्रेम, मोह, विषय, मौज आदिका प्रोत्साहन मिले वे हैं कुशास्त्र। वहां देखो एक ही बात है। वस्तु परिणमनशील है—इस श्रद्धानने कितने भ्रमोंको नष्ट कर दिया, और गहराईमें चलो तो वस्तु परिणमनशील है, यह उसका स्वभाव है। तब जो दर्शन ऐसा मानते हैं कि द्रव्य निराला, गुण निराला, वह भेदवाद भी खत्म हो गया। सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभिन्न दर्शनोंमें उलझने वाली समस्याओंका समाधान केवल एक इस वाक्यमें आ गया कि वस्तु परिणमनशील है। कहनेको यह छोटा वाक्य है, मगर इसमें ज्ञानकिरण कितनी आती है ? बहुतसे खोटे मन्तव्योंका निराकरण हो जाता है। तो सम्यक्त्वके होनेपर जो श्रुतज्ञान होता है वह है सम्यक्श्रुतज्ञान और सम्यक्त्वके अभावमें जो श्रुतज्ञान होता है उसे कहते हैं कुश्रुतज्ञान।

त्रिषु ज्ञानेषु चैतेषु यत्स्यादज्ञानमर्थतः।
क्षायोपशमिकं तत्स्यान्नस्यादौदयिकं क्वचित् ॥१०२२॥

मिथ्या ज्ञानोंकी भी क्षायोपशमिकरूपता—इतना बड़ा विस्तारपूर्वक जो प्रकरण चल रहा है वह यह उपदेश देनेके लिए चल रहा है कि जो ज्ञान हम आपको होता है या जिस किसीको भी, मिथ्यादृष्टिको भी, ज्ञानीको भी वे सब ज्ञान औदयिक नहीं, किन्तु क्षायोपशमिक है याने ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे प्रकट हुआ है। क्षयोपशम यद्यपि भली बात है, याने कुछ कर्म दब गए, कुछ कर्म अलग हो गए, कुछ कर्म उदयमें आ गए, ऐसी स्थितिका नाम है क्षयोपशम, लेकिन मोहनीयका क्षयोपशम हो तो वह कहलाती है भली चीज और ज्ञानावरण

http://sahjanandvarnishastra.org/

का क्षयोपशम हो तो वह है एक सामान्य बात। ज्ञानावरणका क्षयोपशम मिथ्यादृष्टिके भी है, सम्यग्दृष्टिके भी है, किन्तु मोहनीय कर्ममें जो क्षयोपशम हुआ तो वह होगा सम्यग्दृष्टि जीवके। तो यहाँ तीन प्रकारके ज्ञानोंमें जो अज्ञान बताया है याने तीन ज्ञान सम्यक्रूप भी हैं, मिथ्यारूप भी हैं, तो इनमें जो मिथ्यारूप ज्ञान है वह ज्ञान औदयिक नहीं है, किन्तु क्षायोपशमिक है याने मिथ्याज्ञान औदयिक नहीं है तो औदयिक कौनसा ज्ञान है? यह बात आगे बतायेंगे, पर यहाँ यह निर्णय करना है कि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होने वाला ज्ञान कम भी है तो वह जानता है वह क्षायोपशमिक है। उसे औदयिक न कहेंगे। तो फिर औदयिक अज्ञान कैसे होता है? इस विषयको १५वें भागमें बताते हैं।

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन चतुर्दश भाग समाप्त ॥

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित "पञ्चाध्यायी प्रवचन" का यह चतुर्दश भाग समाप्त हुआ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com